

ॐ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गी जयतः ॐ

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वतुष्टितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

गोप्यारथेयं यदि रतिं श्रमं पूजं हि केचन जन्तुः ॥

अहेतुव्यप्रतिग्रहा ययात्मारप्रसोदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आशना को आनन्द प्रदायक । सव धर्मों का अष्ट रति से पालन करते जीव निरन्तर ।
भक्ति अधोक्षत्र की अहेतुकी विष्णुशून्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल कथनकर ॥

वर्ष २ } गौराब्द ४७०, भास—गोविन्द २८, वार—कामगोदशायी } संख्या १०
वृहस्पतिवार, ३० फाल्गुन, सम्वत् २०१३, १४ मार्च १९५७

श्रीश्रीकृष्ण-नामाष्टकम्

[श्रीमद् रूप-गोस्वामी-विरचितम्]

निलिख-श्रुतिमौलि-रत्नमाला-पु ति-निराजित-पादपङ्कजान्त ।

अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं परितस्त्वां हरिनाम संश्रयामि ॥१॥

सम्पूर्ण श्रुतियोंके सारभाग उपनिषद् रूप रत्न-मालाकी प्रभा-निचय द्वारा तुम्हारे चरण-रुमलोंके नख-समूहकी शेष सीमा नीराजित होती रहती है एवं परम विरक्त मुक्तजन तुम्हारी सतत उपासना करते हैं । हे हरिनाम ! मैं सर्व प्रकारसे आपका आश्रय ले रहा हूँ ॥१॥

जय नामधेय सुविवृन्दोय जनरंजनाय परमाशराकृते ।
त्वमनादरादपि मनागुदीरितं निखिलोपताप-पटलीं विलुम्पसि ॥२॥

मुनि-वृन्द सदा-सर्वदा तुम्हारा कीर्तन किया करते हैं, निखिल जीवोंके प्राति-सम्पादनके निमित्त तुमने परम अक्षरका आकार (अप्राकृत शब्द-ब्रह्मका रूप) धारण किया है; साङ्केत्य, परिहास, स्तोभ, हेला—इन चार प्रकारके नामाभासोंके साथ भी यदि कोई तुमको उच्चारण करे, तो तुम उसके समस्त प्रकारके तापोंको (लिंग शरीर पर्यन्त) विनष्ट कर देते हो । अतएव हे नाम देव ! तुम्हारी जय हो ॥२॥

यदाभासोऽप्युच्यन् कथलित भवध्वान्तकथिभवो दशं तत्त्वान्धानामपि दिशति भक्ति-प्रणयिनीम् ।

जनस्तस्योदात्तं जगति भगवन्नाम-तरणे कृतौ ते निर्वक्तुं क इह महिमानं प्रभवति ॥३॥

हे भगवान्नाम सूर्य ! तुम्हारा थोड़ासा प्रकाश भी (नामाभास भी) संसाररूप अन्वकारमें निमग्न हुए व्यक्तियोंके अज्ञानतमको विनष्ट करना है तथा तत्त्व-दृष्टिसे रहित व्यक्तियोंको भक्ति-वपयिनी-दृष्टि प्रदान करता है । अतएव इस जगत्में ऐसा कौन विद्वान व्यक्ति होगा जो तुम्हारी महिमाका सर्वताभावसे कीर्तन कर सके ॥३॥

यद्ब्रह्म साक्षात्कृतनिष्ठयापि विनाशमायाति विना न भोगैः ।

अपैति नाम-स्फुरणेन तस्य प्रारब्ध-कर्मैति विरैति वेदः ॥४॥

अधिच्छिन्न तैलधारावत् ब्रह्मचिन्ता द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार किये जाने पर भी जो प्रारब्धकर्म भोग किये बिना नष्ट नहीं होते, किन्तु हे हरिनाम ! जिह्वाके अप्रभाग पर तुम्हारी स्फूर्तिमात्रसे ही वे कर्म-बीजके साथ ध्वंस हो जाते हैं—वेद पुकार पुकार कर ऐसा कहते हैं ॥४॥

अथदमन-यशोदानन्दनौ नन्दसूनो कमलनयन, गोपीचन्द्र-वृन्दावनेन्द्राः ।

प्रणतकरुण-कृष्णावित्यनेकस्वरूपे त्वयिममरतिरुच्चैर्वर्द्धतां नामधेय ॥५॥

हे अथदमन, हे यशोदानन्दन, हे करुणनयन, हे गोपीचन्द्र, हे वृन्दावनेन्द्र, हे प्रणतकरुण, हे कृष्ण-आदि अनेक रूपोंमें तुम आविर्भूत हो । अतएव हे नामधेय । तुम्हारे प्रति मेरा अनुराग अतिशय बद्धित होवे ॥५॥

वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नाम-स्वरूपद्वयं

पूर्वस्मान् परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे ।

यस्तस्मिन् विहितापराध-विषहः पाणी समन्ताद्भये

दास्येनेदमुपास्य सोऽपि हि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति ॥६॥

हे हरिनाम ! आपके दो स्वरूप हैं—'वाच्य' अर्थात् त्रिभुचैतन्य और आनन्दमय विग्रह एवं 'वाचक' अर्थात् कृष्ण, गोविन्द आदि वर्णात्मक स्वरूप । किन्तु हमलोग वाच्य-स्वरूपसे वाचक-स्वरूपको अधिक दयालु मानते हैं, क्योंकि जीव तुम्हारे वाच्य-स्वरूपके प्रति अपराधी (सेवापराधी) होनेपर भी वाचक-स्वरूप तुम्हारे 'नाम' का उच्चारण करते ही (निरपराध होकर) प्रेमके सुख-समुद्रमें निमग्न हो पड़ता है ॥६॥

सुदिताश्रित-जनातिराशये रम्यचिद्घन-सुख-स्वरूपिणे ।

नामा गोकुल-महोत्सवाय ते कृष्ण पूर्णवपुषे नमो नमः ॥७॥

हे नाम ! हे कृष्ण ! शरणागतजनोंके पीड़ा-(नामापराध-) समूहका नाश करते हो; तुम—परम सुन्दर चिद्घन-स्वरूप एवं गोकुलवासियोंके मूर्तिमान आनन्द-स्वरूप हो । अतएव सम्पूर्ण वैकुण्ठ-स्वरूप तुमको मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ ॥७॥

नारदवीणोज्जीवन सुधामिनिर्वास-माधुरी पूर ।
स्वं कृष्णनाम कामं स्फुर मे रसने रसने सदा ॥८॥

हे कृष्णनाम ! तुम नारदकी वीणाके प्राण-स्वरूप और माधुर्य-स्वरूप अमृतकी लहरियोंके सारांश स्वरूप हो। अतएव तुम मेरी जिह्वापर सर्वदा अनुरागके सहित यथेष्ट रूपमें स्फूर्ति लाभ करो ॥८॥

भक्तिसिद्धान्त

सम्पूर्ण वेद तीन भागोंमें विभक्त हैं यथा—कर्म-काण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड। ये त्रिविध-काण्ड अधिकार और योग्यताके अनुसार परिलक्षित होते हैं। कर्मफल भोगकी कामनासे कर्मकाण्डमें और कर्मफल त्यागकी कामनासे ज्ञानकाण्डमें प्रवृत्ति होती है। लौकिक बद्धानुभूति ही इन पृथक्-पृथक् दो काण्डोंकी जननी है। पारलौकिक मुक्तानुभूतिमें इन काण्डोंके प्रति कोई आदर नहीं। मुक्तावस्थामें जिस स्वाभाविकी रुचिका परिचय मिलता है, उसे वैदिक उपासना-काण्ड अथवा भक्तिपर्व कहते हैं। लौकिक बद्धानुभूतिमें—पारलौकिक उपासना-काण्ड कर्मकाण्डकी एक शाखा-विशेष है—ऐसी भ्रान्त धारणा होती है। जगत्की सम्पूर्ण लौकिक अनुभूतियाँ क्षरधर्मयुक्त अर्थात् अनित्य और परिणामशाल होती हैं। जिस मार्गका अवलम्बन करनेसे क्षरधर्म का नाश हो जाता है उसे ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या अथवा भगवद्भक्तिविद्या कहते हैं।

लौकिक और वैदिक कर्म-ज्ञान भक्तिके
सहायक नहीं हैं।

लौकिक भोगजनक कर्म-समूह और लौकिक त्यागजनक ज्ञान, वैदिक उपासनाके सहायक नहीं हैं। उपासनाकाण्ड अर्थात् भक्तिपर्वमें लौकिक कर्म और ज्ञानके प्रति तनिक भी श्रद्धा नहीं होती। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड ये दोनों वैदिक पथ अक्षरवस्तु—परब्रह्मकी सेवा करनेमें असमर्थ हैं। इन दोनों शाखाओंपर अवलम्बित होकर भी अपनेको भक्ति-

शाखापर अवस्थित समझना स्वरूप-भ्रान्तिका परिचयमात्र है। अपरा विद्याका आश्रय करनेसे पराविद्या-स्वरूपा भक्तिकी उपलब्धि नहीं होती। भक्ति प्रकृतिसे अतीत वस्तु है। जो लोग पार्थिव वस्तुओंकी सेवामें अनुरक्त रहते हैं, वे क्षर अर्थात् अनित्य वस्तुके अनुशीलनमें ही जीवन यापन करते हैं।

त्रिविध काण्डोंके त्रिविध फल

पूर्व-पक्षका खण्डन कर सिद्ध-पक्षके स्थापनको सिद्धान्त कहते हैं। उपासनाकाण्ड (भक्ति शाखा) में अवस्थित मनीषियोंका कहना है कि—वेदोंमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन—इन तीन सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया गया है।

कर्मशाखामें कुशल वैदिक ब्राह्मण स्व-स्व कर्मोंके साथ सम्बन्ध स्थापन करता है, और वह सत्कर्मोंके अनुष्ठानोंको अभिधेय मानकर उनमें प्रवृत्त होता है तथा प्रयोजन-सिद्धि होनेपर ऐन्द्रिक फल लाभ करता है।

ज्ञानशाखामें अवस्थित वैदिक ब्राह्मण ब्राह्मणके

साथ सम्बन्ध स्थापन कर साधन पदकों के जोरसे प्राकृत भेद-रहित ज्ञानके अनुशीलन रूप अभिधेयका अवलम्बन कर अपने प्राकृत अज्ञानसे उत्पन्न द्वैतभावका निरसन करता हुआ अपनी सत्ता का लोप-रूप प्रयोजन लाभ करता है।

भक्तिशाखावलम्बी वैदिक ब्राह्मण कृष्णके साथ अपना अप्राकृत सम्बन्ध स्थापनकर कृष्ण भक्तिरूप

अभिधेयका अवलम्बन कर कृष्णप्रेमरूप प्रयोजन लाभ करता है।

भक्ति सिद्धान्तोंके अभावमें ही कर्म ज्ञानके प्रति श्रद्धा होती है।

वेदोंमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन-तत्त्वों का ही प्रतिपादन है। वैदिक ब्राह्मणगण तीन प्रकार की प्रवृत्तियोंके साथ वेदकी उपासना करते हैं। वे तीन प्रवृत्तियाँ हैं—फल भोगमय कर्म-प्रवृत्ति, फल त्यागमय ज्ञान-प्रवृत्ति और भोग-त्यागसे अतीत भगवत् सेवामयी भक्ति-प्रवृत्ति। कर्मों और ज्ञानी विप्रोंकी इन विभिन्न रुचियोंका मूल कारण अनुसंधान करनेसे प्रतीत होता है कि वे लोग वेदोंके भक्ति-सिद्धान्त के विषयमें एकमत नहीं हैं। निर्मल-ज्ञानके अभाव में वे अद्वय-ज्ञानको परित्यागपूर्वक प्राकृत भोगमय एवं प्राकृत त्यागमय राश्योंमें उपनीत होकर इन दोनों शाखाओंका अस्तित्व आरोप करते हैं। किन्तु सिद्धान्तमें निपुण होनेपर भगवत् कृपासे अप्राकृत अनुभूति लाभ करनेपर वे कर्म और ज्ञान शाखाओंकी हेयता और असारता उपलब्धि कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत और श्रीचैतन्यचरितामृत वेदोंके सार-वेदान्त हैं

श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका सुपक फल है। वेदके उपासना काण्डका तात्पर्य योग्य भक्तोंको प्राञ्जलरूपमें समझा देनेके लिये ही भगवान्की नामात्मक मूर्ति—श्रीमद्भागवतका आविर्भाव हुआ है। श्रीमद्भागवतमें कर्म और ज्ञान शाखाके प्रति आदर परिलक्षित नहीं होता, प्रत्युत् उसमें सर्वत्र ज्ञान और कर्मकी हेयताका ही प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्भागवतका आश्रय करनेसे साधक अनायास ही वेदोंका तात्पर्य उपलब्धि कर सकता है तथा कर्म-काण्ड और ज्ञानकाण्डको परित्याग कर उपासना काण्डके प्रति अनुरक्त हो पड़ता है। श्रीमन्महाप्रभुजीने अपने चरित्रमें श्रीमद्भागवतके गूढ़ उद्देश्यको पूर्णरूपमें अभिव्यक्त किया है। सारप्राही चूड़ामणि, वैदिक शाखामें पारंगत, नित्यलीला प्रविष्ट भग-

वद्भक्तोंके अग्रगण्य श्रीमद् कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने श्रीचैतन्यदेव द्वारा उद्घाटित श्रीमद्भागवतके रहस्योंके साथ लीलामय श्रीचैतन्यदेवका अप्राकृत चरित्र वर्णनकिया है। उन्होंने वेदोंके सार-स्वरूप इस श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें लिखा है—

सिद्धान्त बलिवा चित्ते ना कर अलस।

इहा हैते कृष्णे लागे सुख मानस ॥

(चैतन्यचरितामृत)

भावार्थ यह है कि कोई कोई सिद्धान्तको भक्तिसे पृथक् मानकर उसमें प्रवेश करनेमें आलस्य प्रदर्शित करते हैं, किन्तु ऐसा करना मङ्गलजनक नहीं होता। क्योंकि सिद्धान्त-ज्ञान होनेसे ही श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें चित्त दृढ़तासे लगता है।

जो लोग सिद्धान्त जाननेमें अलसता करते हैं, वेदोंके सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनके तत्त्वमें प्रवेश नहीं करना चाहते, उनके लिए भगवद् भक्तिमें प्रवेशाधिकार पाना कठिन ही नहीं, असंभव है। भक्ति सिद्धान्त-विषयमें प्रवेश न होनेके कारण वे वेदके कर्म काण्ड और ज्ञानकाण्डको ही मूलसे भक्ति मान बैठते हैं तथा भक्ति पथको कण्टकाकीर्ण समझकर परित्याग करते हैं। सिद्धान्तमें अनभिज्ञ व्यक्तियोंके द्वारा आचरित समस्त अनुष्ठान कर्म और ज्ञानके अन्तर्भक्त होनेके कारण हेय और त्याज्य हैं।

वेदके सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वोंके आचार्य।

श्रीमन् महाप्रभुजीके अन्तरङ्ग पार्षद श्रीमनातन-गोस्वामी भक्ति सिद्धान्तके प्रधान आचार्य हैं—श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें यह स्पष्ट उल्लिखित है। भक्ति-सिद्धान्तमें निपुण होकर श्रीरूपगोस्वामीने 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' नामक एक अपूर्व ग्रन्थकी रचना की है। यह ग्रन्थ भक्तमात्रका जीवन-स्वरूप है। इस अप्राकृत वेद भाष्यकी अवहेलना करनेके कारण आधुनिक वैदिक ब्राह्मण-समाजमें नाना-प्रकारके दोष प्रवेश कर गये हैं। उन्हीं रूपगोस्वामीके आनुगत्यमें श्रीजीवगोस्वामीने शुद्ध वैष्णव-समाजके उपकारार्थ 'षट्-सन्दर्भ' नामक एक अनुपम ग्रन्थकी रचना

की है, जिसके प्रथम चार सन्दर्भोंमें उन्होंने सम्बन्ध ज्ञानका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। ये भक्ति-सिद्धान्तके सम्बन्ध-तत्त्वके आचार्य हैं। श्रीरूप-गोस्वामीके आनुगत्यमें श्रीदामोदर-स्वरूपके कृपापात्र श्रीमदूरघुनाथ दास गोस्वामीने अपने 'स्तवावली' नामक अप्राकृत ग्रन्थमें अभिधेय तत्त्वका स्वरूप निरूपण किया है। ये भक्ति-सिद्धान्तके अन्तर्गत अभिधेय तत्त्वके आचार्य हैं। इन श्रीरूपानुग सन्तों ने ही वेदके विशुद्ध उपासनाकाण्डका वास्तविकरूपमें प्रचार किया है।

प्रचारका तात्पर्य यह नहीं कि अन्याभिलाषी,

कर्मी और ज्ञानी भी उस प्रचारका फल लाभ कर सकेंगे। प्रत्युत् उपयुक्तपात्रमें सिद्धान्तालोक प्रदीप्त होने पर ही वह वेद शाखामें अवस्थित होकर रूपानुगत्य वरण करनेमें समर्थ होता है। आज गौड़ीय-वैष्णव-समाज सिद्धान्त-ज्ञानके अभावमें अवैदिक शूद्र होकर ताण्डव नृत्य कर रहा है। श्रीरूपानुग वैष्णव जगत् उन्हें सत् सिद्धान्तका भवण करा कर उन्हें वैदिक वैष्णवधर्मके पालनके उपयुक्त बनावें—यही प्रार्थना है।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त
सरस्वती गोस्वामी

(३) प्रजल्प

प्रजल्प किसे कहते हैं ?

परस्पर कथोपकथनका नाम जल्पना या प्रजल्प है। वर्त्तमान जगत्में वहिमुखता इतनी प्रबल है कि दूसरोंके साथ वात्सलाप करनेमें प्रायः वहिमुख-जल्पना ही हो पड़ती है। अतः भक्ति-साधकोंके लिए जल्पना बहुत ही अहितकर होती है।

भक्तके अनुशीलनमें नाना प्रकारकी जल्पनाएँ हो सकती हैं। साधकोंके लिए इस प्रकारकी भक्ति सम्बन्धित जल्पनाएँ श्रेयस्कर होती हैं श्रीरूप-गोस्वामीने लिखा है—

तथाप्यस्मिन् कदाचिद्दामधीशौ नाम-जल्पनि ।

अवद्यवृन्दनिस्तारि-नामभासौ प्रसीदतम् ॥

(कार्यण्य-पञ्जिका-१६)

तात्पर्य यह कि, भगवन्नामका उच्चारण करते-करते यदि जीवनमें नामाभास भी हो जाय तो इस भगवन्नामरूप प्रजल्प द्वारा (नामाभास द्वारा) सर्व प्रकारके अनर्थोंका विनाश हो जाता है।

कीर्तन, स्तुति, शास्त्र अनुशीलन—ये सभी जल्पना ही हैं। किन्तु जब ये इतर अभिलाषाओंसे शून्य

होकर भक्तिके अनुकूलरूपमें अनुष्ठित होते हैं तब भक्तिके अंग स्वरूप हो पड़ते हैं।

अतएव सिद्धान्त यह है कि, कृष्ण भक्तिके प्रति-कूल समस्त प्रकारकी जल्पनाएँ भक्ति विरोधी होती हैं। साधकोंको खूब साधवान होकर ऐसे प्रजल्पोंसे दूर रहना चाहिए।

संत महाजनों द्वारा आदृत प्रजल्प ग्रहणीय है

संत-महाजनोंका आचरण पूर्ण निर्दोष होत है। अतएव उनके द्वारा आचरित प्रजल्पोंका हमें आदर करना चाहिए तथा स्वयं ऐसे प्रजल्पोंका आचरण करना चाहिए। कुछ अतिभक्त लोग समस्त प्रकारके प्रजल्पोंको परित्याग करनेका उपदेश देते हैं। किन्तु श्रीरूपानुग वैष्णवों को श्रीरूपगोस्वामीके अनुगत होकर उनके द्वारा बताये गये साधन-पथका सर्वदा अनुसरण करना ही कर्तव्य है। यथा—

समग्यः श्रेयसां हेतुः पन्थाः सन्तापवर्जितः ।

अनवासश्रमं पूर्वं येन संतः प्रतस्थिरे ॥

(भक्तिरसामृतसिंधु)

—हमें उस संतापरहित और श्रेयःसाधक मार्गका

अनुसंधान करना चाहिए, जिन मार्ग पर हमारे पूर्व-पूर्व संत-महाजन अनायास ही विचरण करते आये हैं।

व्यास, शुक, प्रह्लाद, श्रीमन्महाप्रभु और उनके पार्षद भक्तोंने हमें जिस मार्गका अनुसंधान दिया है, वही हमारा महाजन-पन्थ है। इस पन्थ को छोड़ कर हम नये नये अतिभक्तोंका उपदेश सुननेके लिये बाध्य नहीं हैं। समस्त महाजनोंने हरिभक्तिके अनुकूल प्रजलोंका आदर किया है। हम इसे उपयुक्त स्थल पर दिखलायेंगे।

बहिर्मुख प्रजल्प ही हरि भक्तिके पथमें बाधक होता है। बहिर्मुख प्रजल्प अनेक प्रकारका होता है। (१) वृथा-गल्प, (२) वितर्क, (३) परचर्चा, (४) वादानुवाद, (५) परदोषानुसंधान (६) मिथ्या-जल्पना, (७) साधु-मिन्दा, (८) ग्राम्य कथा—ये सभी प्रजल्पके अन्तर्गत हैं।

(१) वृथा-गल्प

वृथा-गल्प नितान्त अहितकर होता है। भक्ति-साधकोंको वृथा-गल्प न कर सत्संगमें सर्वथा हरि कथाका श्रवण कीर्तन और निर्जनमें हरिनामका स्मरण करना चाहिए। गीताजीमें इस कथनकी पुष्टि इन श्लोकोंमें की गयी है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवक्षते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुरयन्ति च रमन्ति च ॥

(गीता १०:८-९)

अन्यत्र भी—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च रदमताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

(गीता १:१४)

भक्तिके साधकोंको उपयुक्त नियमानुसार अनन्य भक्तिका अनुशीलन करना कर्त्तव्य है। यदि बहिर्मुख लोगोंके साथ व्यर्थ बातोंमें ही दिन-रात बीत गया, तब 'हमारे नामका सर्वथा कीर्तन करना चाहिये'—भगवान्के इस उपदेशका पालन हम कैसे कर सकेंगे ?

साधकोंके लिये सम्वाद पत्रका पाठ करना बड़ा ही हानिकारक होता है। हाँ, यदि उसमें किसी विशुद्ध भक्तके सम्बन्धमें कोई लेखादि हो तो उसे पढ़ा जा सकता है। गाँवोंके लोग भोजनके उपरान्त अक्सर धूम्रपान करते-करते दूसरे-दूसरे बहिर्मुख लोगोंके साथ गल्पमें प्रवृत्त होते हैं। ऐसे लोगोंका रूपानुग साधु होना बड़ा ही कठिन होता है। उपन्यास पाठ करना भी वृथा-गल्पके अन्तर्गत है। हाँ, यदि श्रीमद्-भागवतके पुरजनोंपरुधान की तरह कोई उपन्यास हो तो उसे पढ़नेसे भक्तिमें बाधा नहीं पड़ती, बल्कि उससे लाभ ही होता है।

(२) वितर्क

वितर्क भी एक प्रकारका भक्तिबाधक प्रजल्प है। नैयायिकों और वैशेषिकोंके समस्त प्रकारके तर्क बहिर्मुख-विवाद मात्र हैं। उनसे चित्तकी निर्बलता और चंचलता बढ़नेके अतिरिक्त कोई सुफल नहीं होता। कठोपनिषद्का कथन है—

'नैषा तर्केण मतिरपनेया ।'

जीवोंकी सहज बुद्धिमें सुमति नित्य वृत्तमान होती है जो भगवान्के चरण-कमलोंमें स्वभावतः अनुरक्त होती है। किन्तु दिक्, देश, भ्रम, प्रमाद-को लेकर वितर्क करने-करते हृदय इतना कठोर हो जाता है कि स्वाभाविक शुद्धमति वहाँसे शीघ्र ही तिरोहित हो पड़ती है। वेदोंमें जिस दशमूलकी शिक्षा दी गयी है, उसके अनुगत होकर तर्क करनेसे मति दूषित नहीं होती। क्या भला है; क्या बुरा है—इस प्रकारका वेदानुगत वितर्क प्रजल्पकी कोटिमें नहीं आता। इसलिये श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने उपदेश दिया है—

'अतएव भागवतं करह विचार'

(चैतन्यचरितामृत)

सम्बन्ध ज्ञानका निरूपण करनेमें जो कथोपकथन होता है, वह प्रजल्प नहीं है। व्यर्थ तर्क द्वारा जो लोग, सभा जय किया करते हैं, उनलोगों का अपना कोई सिद्धान्त नहीं होता, अतएव तर्कोंके संगका सर्वथा परिहार करना कर्त्तव्य है। वासुदेव सार्वभौम

अपने समयके एक प्रकारके और प्रख्यात मायावादी विद्वान् थे । वाद-विवादमें परिदृष्टियोंको परास्त करना ही इनका काम था । किन्तु जबसे इनका श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीसे संग हुआ, ये पूर्णरूपसे बदल गये । इनका वाद-विवादका नशा बिल्कुल दूर हो गया । इन्होंने कहा है कि--“जिस मुखसे मैं पहले तार्किक श्रृंगारोंके संगमें ‘हुँआ-हुँआ’ करनेमें ही जीवनकी अमूल्य घड़ियाँ नष्ट करता था, आज उसी मुखसे ‘कृष्ण, हरि’ आदि भगवान्‌के मधुर नामोंका उच्चारण करता हूँ ।”

जो परमार्थ-विचारमें प्रवृत्त हैं, उन्हें वाराणसीके संन्यासी महोदयका यह हृदयोद्गार सर्वदा स्मरण रखने योग्य है--

परमार्थ-विचार गेल, करिमात्र वाद ।

कहाँ मुँह पाव, कहाँ कृष्णेर प्रसाद ॥

(चैतन्यचरितामृत)

—वाद-विवाद करते-करते परमार्थका विचार तो विदा हो गया है, अब मैं कृष्णकी कृपा कैसे पाऊँ ?

वृथा तर्कोंकी उत्पत्ति इर्ष्या-द्वेष दंभ, अहंकार, दोष अथवा विषयोंके प्रति आसक्ति मूढ़ता और आत्मप्रतिष्ठासे होती है । कलह-प्रिय व्यक्ति व्यर्थ वितर्कोंमें मत्त हो पड़ते हैं । भक्ति-साधकोंको इस बातसे सावधान रहना चाहिये कि वे भगवत्स्व और भागवत चरित्रोंके अनुशीलनके समय वृथा तर्कोंके पचड़ोंमें न पड़े ।

परचर्चा

बिना किसी कारणके परचर्चा भक्तिका अत्यन्त विरोधी है । बहुतेरे आत्म-प्रतिष्ठा स्थापन करनेके लिए परचर्चा किया करते हैं । कोई-कोई स्वभावतः दूसरोंके प्रति इर्ष्यालु होकर उनके चरित्रकी चर्चा किया करते हैं । इस प्रकार व्यर्थ-परचर्चामें जो लोग मस्त रहा करते हैं, उनका चित्त कभी भी भगवान् कृष्णके चरणारविन्दोंको स्पर्श तक नहीं कर सकता, उनमें स्थिर होना तो दूर रहे । इसलिए परचर्चाका परित्याग करना प्रत्येक भक्ति-साधकोंका प्रधान कर्त्तव्य है । किन्तु कुछ परचर्चाएँ ऐसी हैं जो भक्तिके साधनमें

अनुकूल होती है । ऐसी परचर्चाएँ बुरी नहीं । परचर्चाका सम्पूर्णरूपसे त्याग तो केवल वन-वासमें ही संभव हो सकता है । भक्ति-साधक दो तरहका होता है— गृही और गृहत्यागी । गृहत्यागी का विषयोंसे सम्पर्क न रहनेसे वे परचर्चाका सम्पूर्ण रूपसे परिहार कर सकते हैं । किन्तु गृहीव्यक्ति, उपार्जन, संचय, संरक्षण और कुटुम्बके भरण-पोषण आदि कार्योंसे सम्बंधित रहनेके कारण परचर्चाका सर्वथा परिहार करनेमें असमर्थ होता है । इनके लिए कृष्णसंसारमें वास करना ही एकमात्र सदुपाय है । समस्त विषय कार्योंको कृष्ण-सम्बन्धी कर लेनेपर उनकी अनिवार्य परचर्चा भी निष्पाप और भक्ति-साधक हो पड़ती है । जिससे दूसरोंकी हानि हो ऐसी परचर्चासे उन्हें बचना चाहिए । कृष्ण-संसारके लिए कम-से-कम जितनी परचर्चाकी आवश्यकता हो, उतनी ही परचर्चा करें । अकारण परचर्चासे दूर रहना चाहिए । तब एक बात है, गुरु जब शिष्यको विषयोंकी वास्तव स्थितिका ज्ञान देनेके लिए उपदेश करते हैं, उस समय प्रसंगवश कुछ-कुछ परचर्चाकी आवश्यकता होती है । क्योंकि उससे उपदेश परिष्कृतित होते हैं । हमारे पूर्व-पूर्व महाजनोंने जिस रूपमें परचर्चा की है, उसमें कोई दोष नहीं है । उदाहरणके लिए, श्रीशुकदेवजीने विषयी लोगोंके चरित्रकी आलोचना की है, परन्तु उनको परचर्चाका दोष स्पर्श नहीं करता—

‘निद्रया ह्वियते नक्तं’ श्वथायेन् च वा वयः ।

दिवा चार्थेहथा राजन् कुटुम्ब भरणेन वा ॥

देहापत्य - कलत्रादिष्व्वात्मसैन्येष्वसस्वपि ।

तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्तपि न पश्यति ॥

(श्रीमद्भाग० २।१।३-४)

राजन् ! जो गृहस्थ घरके कामधंधोंमें ललके हुए हैं, अपने स्वरूपको नहीं जानते, उनकी सारी उम्र यों ही बीत जाती है । उनकी रात नींद या स्त्री-प्रसंगसे कटती है और दिन धनकी हाय-हाय या कुटुम्बियोंके भरण पोषणमें समाप्त हो जाता है । संसारमें जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर पुत्र आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं, परन्तु जीव उनके मोहमें ऐसा पागल-सा हो जाता है कि दिन-

रात उनको मृत्युका प्रास होते देखकर भी चेतता नहीं। श्रीशुकदेवजीने शिष्यको उपदेश करनेके समय प्रसंगवश विषयीलोगोंकी जो चर्चा की है वह प्रजल्प नहीं है। ऐसे प्रजल्पसे जगत्का कल्याण होता है। श्रीमन्महाप्रभुजीने भी अपने शिष्योंको उपदेश करते समय असत् वैरागियोंके चरित्रकी अवतारणाकी है—

प्रभु कहे,—“वैरागी करे 'प्रकृति'-सम्भाषण ।
देखिबे ना पारों आसि ताहार वदन ॥
जुद्ध जीव सब मर्कट—वैराग्य करिया ।
इन्द्रिय चरागा बुझे प्रकृति संभाषिया ॥”
प्रभु कहे,—“मोर वश नहे मोर मन ।
'प्रकृति'—संभाषी वैरागी ना करे स्पर्शन ॥”

[श्रीचैतन्य-महाप्रभु जी कहते हैं—‘जो वैरागी प्रकृति अर्थात् स्त्रियों से बातचीत करता है, मैं उसका मुन्ध नहीं देख सकता। जुद्धजीव मर्कट-वैराग्य (देखावटी वैराग्य) अवलम्बन कर भीतर-ही-भीतर स्त्रियोंसे बातचीत द्वारा अपनी इन्द्रियोंको चराता फिरता है। मेरा मन और अधीन नहीं, वह स्त्रियोंसे संभाषण करनेवाले वैरागीका स्पर्श नहीं करना चाहता]

उपदेश और विषय-सिद्धान्तोंके विवेचनके समय उपरोक्त प्रकारके वचनोंका प्रयोग नहीं करनेसे व्यक्ति और समाजका कल्याण नहीं होता। इस उद्देश्यसे यदि हमारे महात्मा गुरुजनोंने ऐसी परचर्चाका आचरण कर जगत्को शिक्षा दी है, तब उनकी शिक्षा का विरोध करनेसे हमारा कैसे मंगल हो सकता है? किसी सम्प्रदाय, समाज, या साधारणमें प्रचलित कुसंस्कारोंकी आलोचना उपरोक्त अवस्थाओंमें की जानेसे उसे प्रजल्प नहीं कहा जा सकता है। कभी-कभी किसी व्यक्ति विशेषकी आलोचना हो पड़ने पर भी वह दोषके रूपमें गण्य नहीं होती। परम भागवत मैत्रेय ऋषिने वेणुराजाके सम्बन्धमें कुछ ऐसे ही वचनोंका प्रयोग किया है—

‘हरथं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः ।

अनुनीयमानस्तद्याज्ञां न चक्रे अष्ट मङ्गलः ॥

(श्रीमद्भा० १।१५।२६)

—इस प्रकार विपरीत बुद्धि होनेके कारण वेणुराजा अत्यन्त पर्या और कुमागुमायी हो गया था। उसका पुण्य क्षीण हो चुका था, इसलिए मूणियों के बहुत विनयपूर्वक प्रार्थना करने पर भी उसने उनकी बातपर ध्यान न दिया।

महर्षि मैत्रेयीके लिए ऐसी परचर्चाकी उस समय आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने श्रोताओंके समक्ष ऐसी परचर्चा की थी। उनकी यह परचर्चा वृथा-प्रजल्पकी श्रेणीमें नहीं आती। भक्तिसाधकोंके कल्याणके लिए प्राचीन इतिहासोंका वर्णन किया गया है। इन इतिहासोंमें दुर्जन असाधु व्यक्तियों के चरित्रोंकी भी जगह-जगह आलोचनाकी गयी है। ऐसी आलोचनाएँ कल्याण-प्रद और भक्तिके अनुकूल होती हैं। किन्तु जो लोग, ईर्ष्याद्वेष दंभ अथवा प्रतिष्ठा आदि प्रवृत्तियों द्वारा परिचालित होकर परचर्चा करते हैं, वे भक्तिदेवीके चरणोंमें अपराधी हैं।

(४) वादा-विवाद, (५) परदाषानुसंधान,

(६) मिथ्या जल्पना (८) ग्राम्यकथा

(४) वादानुवाद—जयकी इच्छासे उत्पन्न होता

है। यह नितान्त हेय है। (५) परदाषानुसंधान—केवल अपनी कुप्रवृत्तिके कारण होता है। इसका सर्वथा परित्याग करना कर्त्तव्य है। (६) मिथ्या-जल्पना—वृथा-गल्पका रूपान्तर मात्र है। (८) ग्राम्य-कथा—गृहस्थियोंके लिये सर्वतोभावसे परित्याग्य है। गृहीव्यक्ति भक्तिके अनुकूलरूपमें कुछ-कुछ स्वीकार कर सकते हैं। इतिहास, पशु-विज्ञान, ज्योतिष तथा भूगोल इत्यादि बहिर्मुख होने पर अवश्य ही परित्याग किये जाने योग्य हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी की शिक्षा है—

सृषा गिरस्ता हस्तरीरसत्-कथा,

न कल्पते यद्भगवानधोऽज्ञः ।

तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं,

तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥

तदेव रम्यं रुचिरं नवं-नवं,

तदेव शरवन्मनसो महोत्सवम् ।

तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमःरलोक-यशोऽनुगीयते ॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।४६-५०)

—जिस वाणीके द्वारा घट-घटवासी अविनाशी भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिका उच्चारण नहीं होता, वह वाणी भावपूर्ण होनेपर भी निरर्थक है—सारहीन है, सुन्दर होनेपर भी असुन्दर है और उत्तमोत्तम विषयोंका प्रतिपादन करनेवाली होनेपर भी असत्कथा है। जो वाणी और वचन भगवान्के गुणों से परिपूर्ण रहते हैं, वे ही परम पावन हैं, वे ही मङ्गलमय हैं और वे ही परम सत्य हैं। जिस वचनके द्वारा भगवान्के परम पवित्र यशका गान होता है, वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उससे अनन्तकाल तक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लम्बा और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सदाके लिए सूख जाता है।

[७] साधु-निंदा

साधु निंदारूप जल्पना अत्यन्त अहितकर होती है। यदि कोई भक्तिकी आशा रखता है तो उसे यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि—‘मैं जीवनमें कभी भी साधु-संतोंकी निंदा न करूँगा।’ भगवद्भक्त ही साधु हैं। उनकी निंदा करनेसे समस्त श्रेय विनष्ट हो जाता है। परम पावन श्रीमहादेवकी निंदा करके तापसोंमें श्रेष्ठ दक्ष प्रजापतिकी कैसी दुर्गति हुई थी—श्रीमद्भागवत इसके साक्षी हैं। महान् व्यक्तियोंकी

अवज्ञाका फल कितना भयंकर होता है, श्रीमद्भागवत में देखिए—

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकमाशेष एव च ।

हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥

(श्रीमद्भा० १०।४।४६)

परीक्षित् ! जो लोग महान् संत-पुरुषोंका अनादर करते हैं, उनका वह कुकर्म उनकी आयु, लक्ष्मी, कीर्ति, धर्म, लोक-परलोक, विषय-भोग और सबके-सब कल्याणके साधनोंको नष्ट कर देता है।

इस प्रबन्ध (लेख) का सारांश यह है कि भक्ति के साधक भक्तिके प्रतिकूल समस्त प्रकारके प्रजल्पोंका यत्नपूर्वक परित्याग करेंगे। ‘उपदेशामृत’ के प्रथम श्लोकमें ‘वाचो वेगं’ द्वारा जिस वाणी-वेगको सहनेके लिए उपदेश दिया गया है, वह केवलमात्र नैमित्तिक वेगमात्र है। प्रजल्पका परित्याग करनेसे वाणी अपने आप सदाके लिए नियमित हो जाती है। निष्पापरूपमें जीवन निर्वाह करनेके लिए वाणीका कम-से-कम प्रयोग करना चाहिए। दूसरे लोगोंकी बातोंको लेकर चर्चा करनेसे वह निरर्थक जल्पना हो पड़ती है। अतएव भगवान् ने उद्धवको उपदेश दिया है—

पर-स्वभाव-कर्माणि यः प्रशंसति निंदति ।

स आशु भ्रष्यते स्वार्थादस्तत्याभिनिवेशतः ॥

(श्रीमद्भा० ११।२८।२)

—जो दूसरोंके स्वभाव और उनके कर्मोंकी प्रशंसा अथवा निंदा करते हैं, वे असत् विषयोंमें अभिनिवेश के कारण शीघ्र ही अपने यथार्थ परमार्थ-साधनसे च्युत हो जाते हैं।

ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

गीताकी वाणी

नवाँ अध्याय

सातवें और आठवें अध्यायमें कर्म, ज्ञान और अष्टाङ्ग योगसे भक्तिकी श्रेष्ठता प्रतिपादन कर सम्प्रति नवें अध्यायमें भक्तिके उद्दीपक भगवद्दर्शय और भक्तोंका उत्कर्ष वर्णन कर रहे हैं। इस अध्यायमें भगवान् ने जो उपदेश दिया है उसको उन्होंने सब विद्याओं और समस्त गुण रखने योग्य भावोंसे श्रेष्ठ बतलाया है। किन्तु भगवान् साथ-ही-साथ यह भी बतला रहे हैं कि उनकी श्रीमूर्त्तिको अस्वीकार करनेवाले निर्विशेषवादी इस परम गोपनीय तत्त्व के अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि वे दोष दृष्टियुक्त हैं। इसीलिये अर्जुनको परम निर्मात्सर भक्त जान कर भगवान् उक्त तत्त्वका उपदेश करते हैं—

अर्जुन ! इस परम गोपनीय तत्त्व-ज्ञानको लाभ करनेसे संसार-बन्धन आदि दुःखोंसे छुटकारा मिल जाता है। यह ज्ञान समस्त विद्याओंका राजा और अत्यन्त गोपनीय है। यह जन्म-जन्मान्तरकी पापराशिको समूल ध्वंसकर मानसको पवित्र कर देता है, पाप-बीज-रूप मूल अविद्याको नष्ट कर देता है। इतना होने पर भी यह साधन करनेमें बड़ा सुगम है। उक्त ज्ञानमें भ्रद्धारहित व्यक्ति जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।

उपरोक्त सम्यन्ध ज्ञानकी श्रेष्ठता प्रतिपादन कर अब अपना स्वरूप वर्णन करते हैं—‘चराचर जगत् मुझमें ही स्थित है। किन्तु कार्यरूप घट आदिमें कारणरूप मिट्टीकी तरह मैं समस्त भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। मेरी अव्यक्त मूर्त्तिसे संकल्प द्वारा ही समस्त जगत्का नियमन और धारण हो जाता है। मैं संपूर्ण भूतोंको भौतिक वस्तुओंकी तरह धारण नहीं करता हूँ। जैसे सर्वत्र विचरण करनेवाला वायु सदा आकाशमें स्थित है, उसी प्रकार समस्त भूत मुझमें ही

स्थित हैं। तथा जिस प्रकार आकाशमें स्थित वायु सर्वत्र विचरण करके भी किसी वस्तुमें लित नहीं होता, उसी प्रकार मैं भी निलिप्त भावसे सर्वत्र व्याप्त हूँ। मेरे संकल्पमात्रसे प्रलयकाल उपस्थित होने पर चर-अचर समस्त प्राणी प्रकृतिमें प्रवेश कर जाते हैं और सृष्टिके प्रारम्भमें पुनः प्रकाशित हो पड़ते हैं। मैं उदासीन होकर प्रकृति द्वारा सृष्टि और संहार आदि कार्योंको सम्पन्न करता हूँ। पूर्वोक्त सृष्टि आदि कर्म आसक्तिरहित उदासीन होकर कृत होनेसे मुझे बाँधते नहीं।’

श्री व्यासदेवने भी वेदान्त सूत्रमें ‘वैषम्यनैघृण्ये न सापेक्षत्वात्’ (२।१।३४) सूत्र द्वारा भगवान् में विषमता और निर्दयता आदि दुर्गुणोंका अभाव बतलाया है। भगवान् की अध्यक्षतामें—उनसे ही प्रेरित होकर प्रकृति इस चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। प्रकृतिमें स्वतः कर्तृत्वका पूर्ण अभाव होता है। भगवान् के ईक्षणसे ही प्रकृति सृष्टि-शक्ति लाभ कर जगत् प्रलव करती है।

सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वर परमात्माके परम-भावको न जाननेवाले मूढ़ लोग जगत् में आविर्भूत उनको साधारण मनुष्य मानते हैं अर्थात् ईश्वर निराकार हैं, पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेपर सत्त्वगुणयुक्त पाञ्चभौतिक देह धारण करते हैं जो पीछे नष्ट हो जाती है—ऐसी धारणा रखते हैं। सातवें अध्यायमें ऐसे व्यक्तियोंको ‘नराधम’ की संज्ञा दी गयी है। जिनको भगवान् के सच्चिदानन्दत्वका बोध नहीं है, श्रुतिमें ऐसे लोगोंको अत्यन्त हेय बतलाया गया है—

यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः ।
स सर्वस्माद्बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्त्तविधानतः ।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचेष्टं स्नानमाचरेत् ॥

अर्थात् जो लोग परमात्मा श्रीकृष्णकी देहको पाञ्चभौतिक मानते हैं, उन्हें श्रुति और स्मृतिके विधानोंके अनुसार सर्वप्रकारके कर्मोंसे वहिष्कृत करना कर्त्तव्य है। ऐसे लोगोंके द्वारा अनुष्ठित समस्त कर्म व्यर्थ हो जाते हैं, उनका याग-यज्ञ, धर्म-कर्म, तप, शास्त्र-चर्चा और सदुपदेश—सब कुछ निष्फल है। किसी कामनाकी पूर्तिकी आशासे किये गये उनके समस्त कर्म व्यर्थ हो जाते हैं, उनके शुभ कर्म, वेदान्त आदि शास्त्र अध्ययनसे केवल भ्रम-ही-भ्रम सार होता है। उनकी सद्बुद्धिका लोप हो जाता है। ऐसे राजसी और आसुरी प्रकृतिवाले व्यक्तियोंको पारमेश्वर-तत्त्व का बोध होना नितांत कठिन है। किन्तु दैवी प्रकृति-के आश्रित महात्माजन भगवान्को सब भूतोंका सनातन कारण और अविनाशी जानकर अनन्य भक्तिसे उनकी निरन्तर उपासना करते हैं। भगवान्की उपासनामें दृढ़-निश्चयवाले वे भक्तजन श्रवण-कीर्तन आदि भक्तिके अङ्गोंके अनुष्ठानमें सर्वदा लगे रहते हैं—देश काल आदि नियमोंकी अपेक्षा न कर निरन्तर भगवान्के नाम, रूप, गुण और लीला आदि का कीर्तन करते हैं—श्रीभगवद्विग्रहके सामने बारंबार साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम करते हैं—परस्पर भगवत्तत्त्वकी आलोचना करते हैं एवं एकादशी, जन्माष्टमी आदि व्रतोंका विधिवत् पालन करते हैं। इस प्रकार वे भगवत्प्राप्तिके लिए सतत प्रयत्नशील रहकर प्रेमसे उनकी उपासना करते हैं।

पूर्वोक्त अनन्य प्रेमी भक्तोंके अतिरिक्त ज्ञान-यज्ञ द्वारा भगवान्की उपासना करनेवाले उपासक भी दृष्टिगोचर होते हैं। ये उपासक तीन श्रेणियोंमें विभक्त हैं—(१) अहंप्रहोपासक, (२) प्रतीकोपासक और (३) विश्वरूपोपासक।

(१) अहंप्रहोपासक—अपनेको भगवान्का दास न मानकर 'मैं ही स्वयं भगवान् हूँ'—इस अभिमान के साथ अभेद ज्ञानरूप यज्ञद्वारा उपासना करते हैं।

(२) प्रतीकोपासक—अपनेको भगवान्से पृथक् मान कर सूर्य, गणेश, इन्द्रादि देवताओंको भगवद्वि-भूति समझकर उपासना करते हैं।

(३) विश्वरूपोपासक—भगवान्को विश्वरूप मानकर उपासना करते हैं।

अब विश्वरूप उपासना कैसी होती है?—इसे विस्तारपूर्वक बतलाते हैं कि—वे ही श्रौत और स्मार्त्त यज्ञ हैं, पितरोंके निमित्त प्रदान किया जानेवाला अन्न—स्वधा वे ही हैं, औषधि, मंत्र, घृत, अग्नि और होम भी वे ही हैं। वे ही सम्पूर्ण जगत्के माता-पिता, विधाता और पितामह हैं तथा जानने योग्य पवित्र ओंकार और ऋक्, साम आदि वेद भी वे ही हैं। वे ही सबकी गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति और प्रलयके स्थान और अविनाशी-बीज हैं। वे ही सूर्यरूपमें ताप प्रदान करते हैं, इन्द्ररूपमें बारि वर्षण करते हैं, वे ही जीवन और मरण अथवा स्थूल और सूक्ष्म या कार्य और कारण हैं।

तीनों वेदोंमें निष्ठा रखनेवाले कर्मिजन यज्ञ द्वारा उनकी ही उपासना कर स्वर्गमें देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं और भोगोंके क्षय होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें लौट आते हैं। इस प्रकार वेदत्रयी द्वारा प्रतिपादित कर्ममार्गका अवलम्बन कर वे पुनः पुनः आवागमनको प्राप्त होते हैं। परन्तु जो इतर चिन्ताओंको दूर कर अनन्य भावसे भगवान्की उपासना करते हैं, उनका योग-क्षेम भी भगवान् स्वयं वहन करते हैं अर्थात् अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओंकी रक्षा आदि भगवान् स्वयं सम्पादन करते हैं। किन्तु जो लोग इन्द्र आदि देवताओंको एक-एक पृथक् स्वतन्त्र ईश्वर मानकर उनकी श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं, उनकी वैसी उपासना अवैध होती है। क्योंकि श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञोंके भोक्ता और फल-दाता हैं। ये ही समस्त देवताओंके परमदेवता स्वरूप हैं। देवतावृन्द भगवान्की विभूति मात्र हैं जो जगत् रूप कार्यको सुष्ठुरूपसे चलानेमें सहायता करते हैं। इसलिये देवताओंको भगवान्की विभूति जानकर भगवद्भक्तिके लिये उनकी उपासना करनेसे वह उपासना विधिपूर्वक होती है। ऐसी उपासनासे ही क्रमोन्नतिकी संभावना होती है। इस तत्त्वको नहीं

जानकर देवताओंकी उपासना करनेसे पतन असंभव है। इन्द्रादि देवताओंको ईश्वर मानकर उपासना करने वाले देवताओंको प्राप्त होते हैं। पितरोंकी उपासना करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं; भूतोंकी उपासना करनेवाले भूतोंको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् पुनः पार्थिव वस्तु होकर जन्म लेते हैं और भगवान्की उपासना करनेवाले भगवान्को ही प्राप्त होते हैं।

भक्तजन भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल और जल आदि जो कुछ भगवान्को अर्पण करते हैं, लुब्धा तृष्णारहित भगवान् उस भद्रापूर्वक अर्पित द्रव्योंको प्रीतिपूर्वक भोजन करते हैं। इसलिये जो कुछ किया जाय, जो कुछ खाया जाय, जो कुछ होम किया जाय, जो कुछ दिया जाय—वह सब भगवान्को अर्पण करना कर्त्तव्य है। इस प्रकार सब कुछ भगवान्के लिये आचरित होने पर शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है और अन्तमें भगवत्प्राप्ति होती है।

भगवान् सब प्राणियों में सम हैं। उनका न तो कोई द्वेष-गात्र है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो प्रीतिपूर्वक उनको भजते हैं, उनके प्रति वे अधिक स्नेहशील होते हैं। अतः प्रेमी भक्तोंके प्रति उनका पक्षपातित्व परिलक्षित होता है। श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा है—“भगवान् भक्तभक्तिमान्।” उन्होंने दूसरी जगह और भी कहा है कि भगवान्का स्वभाव कल्पवृक्ष जैसा होता है। जैसे, कल्पवृक्षके निकट कामना करनेसे कल्पवृक्ष तरलण उस कामनाको पूर्ण कर देता है, भगवान् भी उसी प्रकार हैं। किन्तु कल्पवृक्षकी उपमा भगवान् पर सम्पूर्ण अंशोंमें लागू नहीं होती। क्योंकि कल्पवृक्षके निकट गमन करनेसे बिना माँगे कल्पवृक्ष यों ही कुछ नहीं देता, अपने आश्रितोंको आश्रय प्रदान कर उनके शत्रुओं का संहार आदि कार्य अपनी स्वतंत्र इच्छासे नहीं कर सकता, किन्तु भगवान् अपने आश्रितोंके प्रति अतिशय आसक्त होकर भक्तविद्वेषियोंका अपने

हाथसे निधन करते हैं। भगवान्का यही है भक्त-वात्सल्यजनित पक्षपातित्व। वह पक्षपातित्व भगवान् का दूषण नहीं, बल्कि भूषण है।

शुद्ध भक्तोंके प्रति अपनी स्वाभाविकी प्रीति और आसक्ति की बात बतलाकर यहाँपर उन सुदुराचारी भक्तोंके प्रति अवज्ञा न करनेके लिए कहते हैं, जो अनन्यभावसे उनकी भक्ति करते हैं। ऐसे अनन्य भजन करनेवाले भक्तोंमें यदि अत्यन्त दुराचार भी देखा जाय तो उन्हें साधु ही मानना होगा। नृसिंह पुराणमें भी कहा गया है—

भगवति च हरावनन्यचेता भृश
मलिनोऽपि विराजते मनुष्यः ।
न हि शशकलुषवृषिः कदाचित्
तिमिर परामवतामुपैति चन्द्रः ॥

अर्थात्, अतिशय मलिन होनेपर भी मनुष्य यदि श्रीहरिके प्रति अनन्य भजनशील हो तो वह परम शोभाके साथ विराजमान होता है क्योंकि शशकको गोदमें धारणकरनेके कारण चन्द्रकी अन्धकार हरण की योग्यता नष्ट नहीं होती।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती यहाँपर कहते हैं कि भगवान् कहते हैं:—

‘अपने भक्तोंके प्रति मेरी स्वाभाविकी प्रीति और आसक्ति होती है। भक्त यदि अत्यन्त सुदुराचारी भी हो तो मैं उसकी अवज्ञा नहीं करता। बल्कि उसको संशोधन कर पवित्र कर देता हूँ। परस्त्रीगामी, पर-द्रव्य अपहरणकारी होने पर भी यदि वह अनन्य भावसे मुझे भजता है, किस प्रकार भजता है?— ‘अनन्यभाव’ होकर अर्थात् मेरे अतिरिक्त और किसी दूसरे देवताका भजन नहीं करता, मेरी भक्तिके अतिरिक्त कर्म और ज्ञान आदिका कभी आचरण नहीं करता, मेरी सेवाकी कामनाके अतिरिक्त धन-जन, राज्यसुख, यहाँ तक कि मुक्ति आदिकी भी कामना नहीं रखता, तो वह साधु ही माना जाने योग्य है। ‘मन्तव्य’ शब्दसे ‘विधि’ का बोध होता

है। ऐसे सुदुराचारी व्यक्तिको साधु नहीं माना जाने से दोषका भागी बनना पड़ेगा। इस विषयमें मेरी आज्ञा ही प्रमाण है। यदि कहो, तुम्हारा भजन करने के कारण वह कुछ अंशोंमें साधु है तथा दुराचारों के कारण कुछ अंशोंमें वह असाधु भी है तो भगवान् इसका उत्तर देते हैं—नहीं, उसे सम्पूर्णरूपमें साधु ही मानना होगा। उसका असाधुत्व कभी नहीं देखना होगा। क्योंकि उसका व्यवसाय सर्वांग सुन्दर है—वह ठीक-ठीक निश्चयवाला है अर्थात् घोर नरकमें पड़े अथवा नीच योनिमें ही क्यों नहीं पैदा हो—वह ऐकान्तिक मेरा भजन कभी परित्याग नहीं कर सकता।

यहाँ प्रश्न उठता है कि कैसे अधर्म पराश्रय भक्तकी सेवा-पूजा तुम कैसे ग्रहण करते हो? काम क्रोध आदि द्वारा मलिन चित्तवाले व्यक्तियोंके द्वारा निवेदित अन्नादि द्रव्योंको तुम किस प्रकार खाते हो? भगवान् उत्तर देते हैं—वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा नित्य शान्तिको प्राप्त होता है, यहाँ भविष्यत्कालकी क्रियाके बदले वर्तमानकालकी क्रिया का प्रयोग इस बातको सूचित करता है कि अधर्म आचरणके तुरन्त बादही भक्तमार्गका अवलम्बन कर वह अनुतापके प्रभावसे मुझे ही प्राप्त होता है। चारम्बार अपनेको मनुष्य समाजका कलंक और निरतिशय नीच जानकर वह पुनः २ निर्बेदको प्राप्त होता है। अथवा तुरन्त ही वह धर्मात्मत्वको प्राप्त हो जाता है। उस समय भी उसमें दुराचारका अत्यन्त सूक्ष्मरूप वर्तमान होता है, ऐसी विवेचनामें वर्तमानकालका प्रयोग सर्वांग सुन्दर हुआ है। जिस प्रकार महीषधिका सेवन करनेसे तीव्र उबर क्रमशः उतरने लगता है तथा कुछ समयतक उबरका कुछ अंश वर्तमान रहने पर भी अन्तमें सम्पूर्ण उबर चला

जाता है उसी प्रकार अनन्य भक्ति रूप औषधि सेवन करने पर कुछ समय तक सेवनकारी भक्तके हृदयमें थोड़ी सी प्रवृत्ति देखी जाने पर भी वह तुरन्त विनष्ट हो जाती है। उस अनन्य भजनकारी भक्तको उस थोड़ेसे पापके लिये पापी नहीं कहना होगा—वल्कि उसे साधु ही मानना होगा क्योंकि वह शीघ्र ही दुराचारोंके हाथसे छुटकारा पाकर परम शान्ति लाभ कर लेता है।

प्रश्न होता है, कोई-कोई भक्त अन्तकाल तक अनेक प्रयत्न करके भी अपनी दुराचारिताका परित्याग नहीं कर पाते, ऐसे लोगोंकी दशा क्या होती है? भगवान् उत्तर देते हैं—हे अर्जुन! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। प्राणोंका नाश हो जाने पर भी उसका पतन नहीं होता। अतः तुम हाथ उठा कर निःशंक चित्तसे प्रतिज्ञा करो कि वासुदेवके भक्तोंका कभी विनाश नहीं होता।'

अब शंका यह होती है कि भगवान् स्वयं प्रतिज्ञा न कर अर्जुन द्वारा क्यों प्रतिज्ञा करवाते हैं? इसका गूढ़ तात्पर्य यह है कि भगवान् भक्तवत्सल हैं। वे अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भी भक्तकी प्रतिज्ञा पूरी करबे हैं। भगवान् अपने प्रिय भक्त अर्जुन द्वारा ऐसी प्रतिज्ञा करवाकर उक्त कथनकी सत्यता पर अन्विम मुहर लगा देते हैं।

भगवान्के चरणोंका आश्रय लेकर स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र, जो भी कोई पापयोनि हो भक्तिके प्रभावसे परम गतिको प्राप्त होते हैं, फिर पुण्ययोनि ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तोंके लिये तो कहना ही क्या है? तात्पर्य यह है कि अनित्य और दुःखजनक किन्तु परमार्थप्रद इस मनुष्य शरीरको प्राप्तकर सब प्रकारके दुराचारोंको परित्यागपूर्वक भगवान्का भजन करना ही जीवमात्रका कर्त्तव्य है।

—त्रिदशिनस्वामि श्रीमद्भक्तिभूदेव औठी महाराज

वैष्णव अपराध कितना भयंकर होता है

वैष्णव अपराध किसे कहते हैं ? उत्तर है—जो विष्णुकी सेवा करते हैं, विष्णुका नाम, जप करते हैं; जिनके विष्णु ही सर्वस्व हैं, उन्हें वैष्णव कहते हैं और ऐसे वैष्णवोंके प्रति अपराधको वैष्णव अपराध कहते हैं। जो वैष्णव-सन्तोंकी हत्या करते हैं, निन्दा करते हैं, द्वेष करते हैं, उन्हें देखकर प्रणाम आदि नहीं करते, उनके प्रति क्रोध प्रदर्शित करते हैं तथा उनके दर्शनसे आनन्दित नहीं होते—ऐसे मूढ़ व्यक्तियों को वैष्णव-अपराध लगता है। अपने पितरोंके साथ महारौरव नरकमें पतित होते हैं।

साधारण मनुष्य कल्पना तक नहीं कर सकता कि वैष्णव अपराधका फल कितना भयंकर होता है; अतः नीचे वैष्णव अपराधका कुछ परिचय दिया जा रहा है—

[१]

एक दिन अखिल ब्रह्माण्ड-नायक श्रीचैतन्यदेवने श्रीनिवास प्रभुके घर अपने भगवत्-भावका प्रकाश किया। सभी भक्त प्रेम-भक्तिका वरदान पा-पाकर कृतार्थ हो रहे थे। भक्तोंने श्रीशची माताको प्रेमभक्ति प्रदान करनेके लिये उनसे अनुरोध किया। किन्तु महाप्रभुने उनकी प्रार्थना अन्वीकार करते हुए कहा— 'इन्होंने श्रीअद्वैताचार्यके चरणोंमें अपराध किया है। यदि ये अद्वैताचार्यजोसे क्षमा माँगे और यदि अद्वैताचार्यजी इन्हें क्षमा कर दें, तभी ये प्रेम-भक्तिकी अधिकारणी हो सकती हैं; अन्यथा नहीं। वैष्णव अपराध बड़ा ही भयङ्कर होता है। मैं इन्हें कदापि क्षमा न कर सकूँगा। वैष्णव अपराधीको वही क्षमा कर सकता है जिनके चरणोंमें अपराध किया गया है।

श्रीमहाप्रभुके बड़े भाईका नाम विश्वरूप था। ये अद्वैतप्रभुकी संस्कृत पाठशालामें अध्ययन

करते थे। ये स्वभावसे ही परम विरक्त थे। कुछ बड़े होने पर संसार-धर्मके प्रति विरक्त होकर संन्यासलेकर घरसे निकल पड़े थे। शचीमाताने मन-ही मन सोचा कि अद्वैताचार्यकी शिक्षासे ही मेरे जीवनान पुत्रने हमें छोड़कर संन्यास ले लिया है; किन्तु वैष्णव अपराध होनेके डरसे प्रकट रूपमें उस समय कुछ नहीं बोलीं। किन्तु जब विधवा माँ और नव-विवाहिता पत्नीके एकमात्र सहारा श्रीचैतन्यदेव भी संसार धर्मके प्रति अनासक्त होकर अद्वैताचार्यके संगमें सदा भक्तिरसके आस्वादनमें ही मत्त रहने लगे, तब शचीदेवीने दुःखसे कातर होकर कहा था—'ओह ! अद्वैताचार्य कितने निष्ठुर हैं। मेरे एक पुत्र को संन्यासी बनाकर इनका पेट न भरा, अब मेरे दूसरे पुत्र को भी हमसे छीन लेना चाहते हैं।' शचीदेवीका यही अपराध था, जो उन्हें प्रेम-भक्तिकी प्राप्तिमें बाधक हो रहा था।

अन्ततोगत्वा शचीमाताको लेकर भक्तगण अद्वैताचार्यके निकट पहुँचे। अद्वैताचार्य बड़े लज्जित हुए और शचीमाताका गुणगान करते-करते प्रेममें विभोर हो गये। सुयोग देखकर शचीमाताने उनकी चरण-धूलि उठा कर मस्तक पर धारण कर ली। चरण-धूलिका धारण करना था कि वे भी कृष्ण-प्रेममें विभोर हो गयीं। इस प्रकार अद्वैताचार्यके चरणोंमें क्षमा माँगकर भयंकर वैष्णव अपराध से मुक्ति पायी।

[२]

एक समय देवल ऋषि एक सरोवरमें स्नान कर रहे थे। उसी सरोवरमें हूहू नामक एक गन्धर्व भी सुरा-पान कर अप्सराओंके साथ जल-विहारमें मत्त हो रहा था। सुरापानके कारण उसकी कामुकता लज्जा और भय की अन्तिम सीमा भी पार कर गयी थी। वह ज्ञानशून्य होकर जलमें डूबकर ऋषिके

पैरोंको खींचने लगा । देवल ऋषिने उसे उचित शिक्षा देनेके लिये शाप दिया—‘अरे पापिष्ठ ! तू अबसे मगर होकर ही इस पापका फल भोग ।’ ऋषि के अभिशापसे उस दुराचारीने शीघ्र ही मगर होकर जन्म लिया ।

[३]

प्राचीन कालकी बात है । पाण्ड्य देशके इन्द्रद्युम्न नामक एक बड़े ही धर्मात्मा राजा थे । उन्होंने एक समय मलय पर्वतमें एक कुटी बनवायी और मीन-ब्रज धारण कर वहीं भगवद् आराधनामें मग्न हो गए । एक दिन महर्षि अगस्त अपने शिष्योंके साथ घूमते-घामते उनकी कुटी पर पधारे । किन्तु राजाने भगवद् भजन छोड़कर महर्षिका अभिवादन करना अनावश्यक समझा । इसलिये वे अर्थ्यना करना तो दूर रहे, आसनसे उठे भी नहीं । राजाकी उद्दंडता देखकर महर्षिके क्रोधकी सीमा न रही । उन्होंने राजा को अभिशाप देते हुए कहा—‘अरे नीच ! तू धनैश्वर्यके मदमें मत्त होकर संतोंका सम्मान करना भी भूल गया है । तू हाथीका जन्म लेकर वैष्णव अवज्ञा का फल भोग ।’ महर्षिके शापसे इन्द्रद्युम्न राजाने हाथी होकर वैष्णव अपराधका फल भोगा ।

[४]

श्रीनिवास परिलटत श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके प्रधान भक्तोंमें से थे । संन्यास लेनेसे पूर्व श्रीमन्महाप्रभुजी इन्दीके घर अपने प्रिय भक्तोंके साथ कीर्तन किया करते । किन्तु वह कीर्तन सार्वजनिक नहीं होता था । कृष्ण-बहिर्मुख और भक्त-द्वेषियोंको वहाँ प्रवेशाधिकार न था । रातमें दरवाजा बन्द कर दिया जाता और सारी रात उरुच स्वरसे संकीर्तन होता । उस समय नवद्वीपमें, चापाल गोपाल नामक एक अत्यन्त पापण्डी ब्राह्मण रहता था । एक दिन उसकी इच्छा यह देखनेको हुई कि ये लोग सारी रात दरवाजा बन्द कर क्या करते हैं ? किन्तु महाप्रभुजीकी आज्ञाका उल्लंघन कौन करता ? फलतः वह भीतर न जा सका । इससे वह जुन्ध होकर रातमें संकीर्तन भवनके बन्द

दरवाजेके सामने मद्य, मांस, जावापुष्प आदि बहुत सी अपवित्र वस्तुएँ रख आया । प्रातःकाल दरवाजा खुलनेपर उन अपवित्र पदार्थोंको पड़ा हुआ देखकर श्रीनिवास प्रभु हाय ! हाय ! करने लगे । कुछ दिन बीतते न बीतते ही ‘चापाल गोपाल’ महाकुष्ठ रोगसे छट-फट करता हुआ रास्तेके बगलमें कराह रहा था ।

अन्तमें महाप्रभुकी आज्ञासे श्रीनिवास प्रभुके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने पर वह इस भयंकर रोगसे मुक्त हो सका । अब वह महाप्रभुजीका भक्त हो गया ।

[५]

एक समय ब्रह्माजीने एक अतिशय रूपवती कन्या की सृष्टि की । भगवद्भक्तोंके चरित्रको समझना देवताओंके लिये भी कठिन ही नहीं असम्भव होता है । ब्रह्माजी उस कन्याके प्रति अत्यन्त कामासक्त जैसी चेष्टाएँ करने लगे । उस समय ब्रह्माके छः पौत्रगण जो सिद्ध पुरुष थे—ब्रह्माकी अवस्था देखकर जोरोंसे हँस पड़े । फल यह हुआ कि उनका वैष्णव अपराध हो गया । वे उसी समय स्वर्गसे क्युत् होकर जन्म जन्मान्तर तक नाना-प्रकारकी योनियोंमें भटकते रहे । एकवार हिरण्यकशिपुके पुत्रके रूपमें पैदा हुए और इन्द्र के वज्रसे निहत भी हुए । अन्तमें देवकीके गर्भसे पैदा होने पर मामा कंसके हाथसे निर्दयतापूर्वक मारे गये । कंसके मारे जानेपर कारामुक्त देवकी अपने पुत्रोंके शोकसे विह्वल हो गई और कृष्णसे उन्हें लौटा लानेके लिये अनुरोध किया । कृष्ण द्वारा लाए गये अपने पुत्रोंको देखकर देवकीका वात्सल्य भाव उमड़ पड़ा । वे इन्हें अपना स्तन पान कराने लगीं । भगवान् कृष्ण द्वारा पान किये गये स्तनोंका पान करते ही वे अपने पूर्व-वैष्णव अपराधसे मुक्त हो गए और भगवान् कृष्णकी स्तुति तथा माता-पिताको प्रणामकर पुनः ब्रह्मलोक चले गए । वहाँ ब्रह्माके चरणोंमें गिर पड़े ।

यदि सिद्ध पुरुषोंको भी वैष्णव महात्माओंकी अवज्ञा आदि करनेसे ऐसा दुष्परिणाम भोगना पड़ता

है, तब असिद्ध पुरुषोंकी बात ही क्या है ?

[६]

एक समय कैलाशमें देवताओं और ऋषि-मुनियों की एक विराट् सभा हो रही थी। महायोगेश्वर श्री-शिव पार्वतीदेवीको अपनी गोदमें बैठाकर एक हाथसे उन्हें आलिङ्गन किये हुए सबके बीच एक उच्च आसन पर विराजमान हो रहे थे। दैवयोगसे महा-योगी चित्रकेतु विमान पर बैठकर आकाश मार्गसे कैलाशसे होकर कहीं जा रहे थे। वे महेशको ऐसी अवस्थामें बैठे देखकर जोरोंसे हँस पड़े तथा पार्वती को सुना-सुनाकर अपने गुरुभ्राता श्रीशिवके चरित्र की कुछ व्यंगपूर्ण चुरी-भली आलोचना भी करने लगे। पार्वतीजी चित्रकेतुकी ऐसी धृष्टता देखकर क्रोधसे काँपती हुई बोली—अरे मूढ़ ! जान पड़ता है कि ब्रह्माजी, भृगु, नारद और जनकादि परमर्षि, कपिलदेव और मनु आदि बड़े-बड़े महापुरुष धर्मका रक्षक नहीं जानते। क्योंकि ये लोग श्रीशिवके चरित्र की निन्दा नहीं करते। ब्रह्मा आदि समस्त देववृन्द जिनके चरण-कमलोंका ध्यान करते हैं, जो समस्त मङ्गलके मंगलस्वरूप हैं, उन जगद्गुरु शिवका तूने साक्षात् तिरस्कार करनेका दुस्साहस किया है ? तू बड़ा डीठ और अहङ्कारी हो गया है। तुझे भगवान् श्रीहरिके चरण-प्रांतमें वास करनेका अधिकार नहीं। दुर्मते ! तू पापमय असुर योनिको प्राप्त हो ! चित्रकेतु मृत्युलोकमें वृत्तासुर नामक एक भयंकर असुर हुए जिनके डरसे सारी पृथ्वी काँपती थी। अन्तमें महा-तपस्वी दधीचि ऋषिकी हड्डियोंसे निर्मित वज्र द्वारा इन्द्रके हाथोंसे वे निहत हुए थे।

[७]

नलकुवर और मणिमीव—ये दोनों कुवेरके पुत्र थे। एक समय वे दोनों भाई सुरापान कर कैलाशके एक सुरम्य सरोवरमें नग्न होकर अप्सराओंके साथ जल-विहारमें मस्त थे। सुरापान और कामुकताका इतना गहरा नशा हुआ कि उन्हें तनिक भी काण्डज्ञान न रहा। अचानक देवर्षि नारद उसी सरोवरसे होकर निकले। अप्सराओंको तो काटे खून

नहीं। उन्होंने जल्दीसे दौड़कर अपने-अपने वस्त्रोंको पहनकर देवर्षिके चरणोंमें प्रणाम किया और लज्जित भावसे दृष्टि नीची कर पैरोंसे नीचेकी जमीन कुरेदने लगी, मानों मूक भाषामें अपने कुकर्मोंकी क्षमा माँग रही हों। किन्तु वे दोनों भाई सुरापानसे इतने मत-वाले हो रहे थे कि उन्होंने देवर्षिकी तनिक भी परवाह न की, बल्कि अप्सराओंको इस प्रकार कपड़े पहन कर नारदके निकट देखकर वे भुँभला उठे। देवर्षि उन्हें इस प्रकार उच्छ्वङ्गल, निर्लज्ज और संतोंकी अवज्ञा करनेवाला देखकर शाप देते हुए बोले— 'तुम लोग इस देव-स्थानमें वास करनेके योग्य नहीं हो। इसलिये तुम दोनों वृत्त-योनिको प्राप्त हो जाओ।' तबसे ये लोग हजारों वर्षों तक गोकुलमें यमलाजुन वृत्तके रूपमें पड़े रहे। अन्तमें नन्दनन्दन श्रीगोपालकी कृपा से उन्हें वृत्त-योनिसे छुटकारा मिला।

[८]

श्रीदेवानन्दजी कुलिया नवद्वीपके एक प्रख्यात् ब्राह्मण परिवारके थे। उच्च कुल, विराट् परिवार, तिस पर भी फलाहार और दुग्धपान—यह सब उनकी विख्यातिके लिये कम न था। श्रीमद्भागवतकी ऐसी सुन्दर व्याख्या करते कि सुननेवाले हिलनातक भूल जाते। महाप्रभुके प्रिय भक्त श्रीनिवास भागवतके बड़े ही प्रेमी थे। एक दिन वे भी देवानन्द परिवारकी सभामें श्रीमद्भागवतका श्रवण करने पहुँचे। अतीव मधुर व्याख्या चल रही थी। श्रीमद्भागवतके मधुर श्लोकोंको श्रवणकर श्रीनिवासके शरीरमें पुलक, कम्प आदि तथा नेत्रोंसे निरंतर अश्रु-प्रवाह आदि अष्ट-सात्विक विकार होने लगे। वे कृष्ण-विरहजनित खेद से क्रन्दन करते-करते बाह्य ज्ञानशून्य हो पड़े। अवैशेष देवानन्द परिवारने भक्तके अष्ट-सात्विक विकारोंको समझनेमें असमर्थ होकर अपने शिष्यों द्वारा उन्हें सभा स्थलसे बाहर निकलवा दिया। श्री-मन्महाप्रभु उसे कब सहन कर सकते थे। वे बड़े ही क्रुद्ध हुए और बोले—'उलने मेरे भक्त का अपमान किया है। उस बेटाको श्रीमद्भागवत पाठ करनेका अधिकार नहीं।' इतना कहकर वे देवानन्द परिवारको

दण्ड देने दौड़े किन्तु वे भक्तोंके अनुरोधसे लौट पड़े ।

देवानन्द पण्डित पश्चात्तापकी अग्निमें जल रहे थे । वे महाप्रभुके चरणोंमें गिर कर क्षमा माँगना चाहते थे । किन्तु साहस न होता था । महाप्रभुजी संन्यास लेकर जब कुलियाँ पहुँचे, देवानन्द पण्डितने अत्यन्त कातर होकर उनके चरणों पर गिर कर रोते-रोते क्षमा माँगी । करुणावरुणालय श्रीचैतन्यदेवने उन्हें हृदयसे लगा लिया तथा अपने भक्तके रूपमें

अङ्गीकार कर लिया । इस प्रकार उन्हें वैष्णव अपराधसे मुक्ति मिली । इसलिये कुलिया तभीसे 'अपराध भञ्जन पाट' के नामसे प्रसिद्ध है ।

साधु सावधान ! वैष्णव अपराध बड़ा ही भयंकर होता है । यह भयानक मतवाला हाथी है जो भक्तिलताको अनायास ही समूल उखाड़ फेंकता है । एक बार मत्त हो जाने पर इसे शान्त करना कठिन होता है । अतः इससे सर्वदा बचनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

—[श्रीगौड़ीय पत्रिका (बंगला) के एक लेख के आधार पर]

राधे श्याम श्यामा श्याम

व्रज-जन मन सुखकारी ।

राधे श्याम श्यामा श्याम ॥

मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल,

गल वैजयन्ती माल ।

चरणन नुपुर रसाल ॥राधे॥

वृन्दावन में धेनु चरावै,

गोपीजन मनहारी ।

श्रीगोवर्द्धनधारी ॥राधे॥

तुम बिन मेरे और न कोई,

नाम रूप अवतारी ।

चरणन में बलिहारी ॥राधे॥

सुन्दर बदन कमलदत्त लोचन,

बाँकी चितवनहारी ।

मोहन वंशीविहारी ॥राधे॥

राधा कृष्ण मिलि अब दोऊ,

गौर रूप अवतारी ।

कीर्त्तन धर्म प्रचारी ॥राधे॥

—त्रिदण्ड स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण महाराज .

जैव धर्म

[पूर्व प्रकाशित वर्ष २ संख्या ६ पृष्ठ ४६६ से आगे]

नित्यानन्द दास—स्वयं अमानी कैसे हुआ जाता है ?

हरिदास—“मैं ब्राह्मण हूँ, मैं धनी हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं सन्यासी हूँ”—ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये। लोग सम्मान करते हैं—करें, किन्तु ऐसे सम्मानोंकी कतई आशा नहीं रखनी चाहिये। अपनेको सदा-सर्वदा दीन-हीन अकिंचन और तृणसे भी नीच समझना चाहिये।

नित्यानन्ददास—“इससे तो जान पड़ता है कि दैन्य और दयाके बिना वैष्णव नहीं हुआ जा सकता।”

हरिदास—“विलकुल ठीक।”

नित्यानन्ददास—“तो क्या भक्ति दैन्य और दयाके सापेक्ष है ?”

हरिदास—“नहीं, भक्ति पूर्ण निरपेक्ष है। भक्ति स्वयं सौंदर्य है, और स्वयं अलंकार है। वह किसी भी सदगुणकी अपेक्षा नहीं रखती। दैन्य और दया कोई पृथक् गुण नहीं हैं—भक्तिके ही अन्तर्गत हैं। ‘मैं कृष्णका दास हूँ, अकिंचन हूँ—दीन-हीन कंगाल हूँ, कृष्ण ही मेरे सर्वस्व है’—यहाँ जो भक्ति दीख पड़ती है, वही दैन्य है। श्रीकृष्णके प्रति आर्द्र-भाव ही भक्ति है, दूसरे-दूसरे सभी जीव कृष्णके दास हैं, उनके प्रति आर्द्रभाव दया है। अतएव दया कृष्ण भक्तिके अन्तर्गत व्यापार है। दया और दैन्यके मध्यवर्ती भाव का नाम क्षमा है। ‘मैं दीन-हीन हूँ, क्या मैं दूसरोंका दण्डदाता हूँ?’—जब ये भाव दयाके साथ मिलित होते हैं, उस समय क्षमा अपने-आप उपस्थित होती है। क्षमाभी भक्तिके अन्तर्गत व्यापार है। कृष्ण—सत्य है, जीवोंका

कृष्णदास्य भी—सत्य है, जड़ जगत् जीवोंका पान्थ-निवास है—यह भी सत्य है, अतएव भक्ति भी सत्य है, क्योंकि कृष्णके प्रति जीवोंके दास्य भावका नाम ही भक्ति है। सत्य, दैन्य, दया और क्षमा—ये चारों भक्तिके अन्तर्गत भाव विशेष हैं।

नित्यानन्ददास—“दूसरे-दूसरे धर्मावलम्बियोंके प्रति वैष्णवोंका व्यवहार कैसा होना चाहिये ?”

हरिदास—“श्रीमद्भागवतका उपदेश है—

नारायण-कलाः शान्ता; भजन्ति ह्यनसूयवः।

अर्थात्, अनिन्दक और शांत स्वभाव वाले संतजन नारायण तथा उनके अंश और कला स्वरूपोंकी आराधना ही करते हैं।

वैष्णव धर्मके अतिरिक्त और कोई भी धर्म नहीं है। इसके अतिरिक्त जितने भी धर्म प्रचारित हुए हैं अथवा आगे होंगे, वे सभी वैष्णव धर्मके या तो सोपान हैं अथवा विकृति। सोपान स्थानीय धर्मोंका यथायोग्य आदर करना चाहिये और विकृत धर्मोंके प्रति द्वेषशून्य होकर भक्ति तत्त्वका अनुशीलन करना चाहिये। दूसरे धर्मावलम्बियोंके प्रति हिंसा-द्वेषका भाव न रखना चाहिये। जब जिनके शुभ दिन आयेंगे, वे अनायास ही वैष्णव बन जायेंगे—इसमें संदेह नहीं।”

नित्यानन्ददास—“वैष्णव धर्मका प्रचार करना कर्त्तव्य है या नहीं ?”

हरिदास—“कर्त्तव्य है और अवश्य कर्त्तव्य है। हमारे श्रीचैतन्य महाप्रभुने सब पर इस धर्मके प्रचार का भार दिया है—

“नाचो गावो भक्त-संग कर संकीर्त्तन।

कृष्णनाम उपदेशि, तारो सर्वजन ॥

* * * * *
 अतएव माली आज्ञा दिल सवाकारे ।
 जाहों ताहों प्रेम फल देह जारे तारे ॥'
 (श्रीचैतन्यचरितामृत)

हाँ, एक बात सर्वदा याद रखना, वह यह कि कुपात्र को सुपात्र बनाकर नाम उपदेश करना, कुपात्र को नाम नहीं देना । जहाँ उपेक्षाकी आवश्यकता

हो, वहाँ ऐसे शब्दोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये जिससे प्रचार कार्यमें बाधा उपस्थित हो पड़े ।'

हरिदास बाबाजी की अमृतमयी मधुर वाणियों को सुनकर नित्यानन्ददास प्रेममें विभोर होकर बाबाजीके चरणोंमें लोटने-पोटने लगे । वैष्णवोंकी बार-बार हरिध्वनिसे सारा उपवन-प्रान्त गूँज उठा । सभा भंग हुई । सचने बाबाजी महाशयको दण्डवत् प्रणाम किये और अपने-अपने स्थानोंको लौट पड़े ।

नवां अध्याय

नित्यधर्म, प्राकृत विज्ञान और सम्यता

लाहिड़ी महाशयको गोद्रुममें रहते तीन-चार साल हो गये हैं । अब उनका हृदय बिल्कुल पवित्र हो चुका है । खाते-पीते; चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते—सब समय हरिनाम करते हैं, साधारण कपड़े पहनते हैं, जूता अथवा खड़ाऊँका व्यवहार बिल्कुल नहीं करते, जातिका अभिमान इतना दूर हो गया है कि किसी वैष्णवको देखनेके साथही भ्रद्धा से दण्डवत् प्रणाम करते हैं तथा बलपूर्वक उनकी चरण-धूलि ग्रहण करते हैं । ढूँढ़-ढूँढ़कर वैष्णवों का उच्छिष्ट भोजन करते हैं । कभी-कभी उनके पास उनके लड़के भी आते हैं, किन्तु पिताके मानसिक भावोंको लक्ष्यकर वहाँसे तुरन्त खिसक जाते हैं—घर चलने का प्रस्ताव उपस्थित करनेका साहस नहीं होता । लाहिड़ी महाशयको देखनेसे जान पड़ता है कि कोई वेपधारी बाबाजी बैठे हैं । गोद्रुमके वैष्णवों के सिद्धान्तोंको भली-भाँति समझ बृम्भकर उन्होंने स्थिर किया है कि बाहरी वेश लेनेसे कोई लाभ नहीं, बल्कि हृदयमें सच्चे वैराग्यकी आवश्यकता है । श्री सनातन गोस्वामीकी भाँति अपनी आवश्यकताओंको संकुचित करनेके उद्देश्यसे वे एक धोती को फाड़कर चार टुकड़े बना लेते हैं । उनके कंधोंसे अब भी यज्ञोपवीत झूलता है । जब कभी उनके

पुत्र उनको कुछ आर्थिक सहायता देने आते हैं, तब 'मैं विषयी की एक कौड़ी भी ग्रहण नहीं कर सकता'—ऐसा कहकर टाल देते हैं । एक बार चन्द्रशेखरने किसी उरसवमें स्पर्च करनेके लिये एक सौ रुपये देना चाहा था, किन्तु लाहिड़ी महाशयने श्रीरघुनाथदास गोस्वामीका चरित्र स्मरण कर उसे अस्वीकार कर दिया ।

एक दिन परमहंस बाबाजीने कहा—'लाहिड़ी महाशय ! अब आपमें तनिक भी अवैष्णवता नहीं है । हमने तो केवल वेश ही लिया है, किन्तु आपसे हम वैराग्यकी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं । यदि आप का नाम भी वैष्णव नाम हो जाय तो सर्वांग सुन्दर हो जायगा ।'

लाहिड़ी महाशयने बड़े ही नम्र शब्दोंसे उत्तर दिया—'आप मेरे दादागुरु हैं, आपकी जैसी इच्छा हो, कीजिये ।'

बाबाजीने कहा—'आपका घर शांतिपुर है, अतएव हमलोग आपको श्रीअद्वैतदास कहेंगे ।'

लाहिड़ी महाशयने दण्डवत्-प्रणाम करते हुए नाम-प्रसादको ग्रहण किया । उसी दिन से सभी लोग उन्हें अद्वैतदास कह कर पुकारने लगे । वे जिस कुटिया में भजन करते लोग उसे भी अद्वैत कुटीर कहने लगे ।

अद्वैतदासके एक बाल्यबन्धु थे । उनका नाम

दिगम्बर चट्टोपाध्याय था। मुसलमानी राज्यके बड़े-बड़े औहदारों पर नौकरी करके उन्होंने यथेष्टरूपमें धन और मान कमाया था। उन्नत अधिक होनेके कारण वे नौकरी छोड़कर अपने गाँव अम्बिकामें रहने लगे थे। गाँव पहुँचते ही उन्होंने कालीदासका पता लगाना आरम्भ किया। पता चला कालीदास घर-बार छोड़ कर श्रीगोद्रुममें 'अद्वैतदास' नाम लेकर भजन कर रहे हैं।

दिगम्बर चट्टोपाध्याय कट्टर शाक्त हैं। 'वैष्णव'-शब्द सुनते ही कानोंमें अगुलियाँ देते हैं। अपने परम मित्रकी ऐसी अधोगति की बात सुनकर बड़े हैरान हुए। आखिर अपने सेवकको बुलाकर कहा— 'वामनदास ! एक नावका तुरन्त प्रबन्ध करो, मैं अभी गोद्रुम जाऊँगा।'

वामनदासने शीघ्रही एक नावका प्रबन्ध कर दिया। दिगम्बर चट्टोपाध्याय बड़े ही चतुर व्यक्ति हैं। वे जैसे तंत्र-शास्त्रके बड़े पण्डित हैं, यवन सभ्यतामें भी वैसे ही दक्ष पुरुष हैं। अरबी और फारसीमें तो बड़े-बड़े मौलवी तक उनसे हार मानते हैं। तंत्र-सम्बन्धी तर्कोंमें उनके सामने बड़े-बड़े पण्डितोंकी बोलती ध्वं हो जाती है। दिल्ली और लखनऊ आदि प्रसिद्ध शहरोंमें बड़ा नाम कमाकर आये हैं। अवकाशके समयमें उन्होंने 'तंत्र-संग्रह' नामक एक ग्रंथकी रचना की है। अनेक श्लोकोंकी टीकाओंमें उन्होंने अपने प्रगाढ़ पाण्डित्यका परिचय दिया है।

'तंत्र-संग्रह' को लेकर दिगम्बर बड़ी तेजीसे नाव पर सवार हो गए। छः घण्टोंमें ही नाव श्रीगोद्रुम-घाट पर आ पहुँची। उन्होंने एक चालाक आदमीको कुछ सिखा-पढ़ाकर श्रीअद्वैतदास के पास भेज दिया और स्वयं नाव पर ही रह गये।

अद्वैतदास अपनी कुटीमें बैठे हरिनाम भज रहे हैं कि दिगम्बर चट्टोपाध्यायके भेजे हुए आदमीने उनको प्रणाम किया। अद्वैतदासने आगन्तुक व्यक्तिसे पूछा—'तुम कौन हो और यहाँ तुम्हारे आनेका वद्देश्य क्या है?'

आगन्तुकने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—'मुझे श्रीयुत दिगम्बर चट्टोपाध्यायने आपके पास भेजा है। उन्होंने पूछा है कि कालीदासको मेरा नाम स्मरण है या नहीं?'

अद्वैतदासने कुछ असुकतासे पूछा—दिगम्बर हैं कहाँ? वह तो मेरे बाल्यबन्धु हैं। क्या मैं उन्हें भूल सकता हूँ? क्या उन्होंने अब वैष्णव धर्म मद्दण कर लिया है?'

आगन्तुकने कहा—'वे इमी घाट पर नावमें हैं। वे वैष्णव हुए हैं या नहीं, मैं कह नहीं सकता।'

अद्वैतदासने कहा—'वे घाट पर क्यों हैं?' इस कुटिया पर क्यों नहीं पधारते?'

अद्वैतदासकी बातोंको सुनकर आगन्तुक वहाँसे चला गया और एक घन्टा बीतते न बीतते ही तीन-चार सज्जनोंके साथ दिगम्बर चट्टोपाध्याय अद्वैत-कुटीरमें पहुँचे। दिगम्बर वचनसे ही बड़े उदार चित्तके व्यक्ति हैं। पुराने मित्रको देखकर उनका अन्तःकरण आनन्दसे पुलकित हो उठा। उन्होंने अपना निम्न-लिखित पद गाते हुए अद्वैतदासका आलिङ्गन किया—

कौन जानता जननि ! तेरी लीलाओंको त्रिभुवन में ?
कभी पुरुष हो कभी प्रकृतिहो कभी मत्ता होती रणमें ॥

रचती सृष्टि विधाता बनकर ।

पुनः नाश करती बन शंकर ॥

बनकर विष्णु व्यस्त तुम रहती जीवोंके परिपालन में ।
कृष्णरूपसे वृन्दावन में, मुरली बजायी थी उपवन में ॥
नवह्रीपमें गौर रूपसे सबहिं रमाया कीर्तन में ।
कौन जानता जननि ! तेरी लीलाओंको त्रिभुवन में ॥

दिगम्बर चट्टोपाध्यायको अपने निकट एक कुशासन देते हुए अद्वैतदासने कहा—'आओ भाई ! बहुत दिनोंके बाद भेंट हुई।'

कुशासन पर बैठते हुए आँखोंके जलसे ममता दिखलाते हुए दिगम्बरने कहा—'कालीदास ! अब मैं कहाँ जाऊँ ? तुम तो वैरागी बनकर 'न देवाय न धर्माय' हुए। पंजाबसे न जाने कितनी आशाओंको हृदयमें भरकर आया था। हमलोगोंके बाल्यबन्धुओं

मेंसे पेशा पागला, स्वेदा, गिरीश, ईशोपागला, धनुवा, कल्लू बड़ई, फान्ति भट्टाचार्य—सब मर चुके हैं। तुम और मैं ही बच रहे हैं। सोचा था, एक दिन गंगा पार कर तुम्हारे यहाँ आऊँगा और तुम दूसरे दिन गंगा पार कर अम्बिका पधारोगे। जीवनकी शेष घड़ियाँ परस्पर गान गाकर और तंत्र पढ़कर चिता देंगे। किन्तु हाय रे दुर्भाग्य ! तुम पूरे गोबर निकले। न इस लोकके हुए और न परलोकके। अच्छा यह तो बताओ कि तुमने यह क्या कर रखा है ?

अद्वैतदासने देखा कि बड़े विकट आदमीसे काम पड़ा है। किसी प्रकार वाक्यबन्धुके हाथसे छुटकारा मिले तभी कुशल है। यह सोचकर उन्होंने कहा—‘दिगम्बर ! क्या तुम्हें याद नहीं ?—एक दिन हम लोग अम्बिकामें गुल्ली-डण्डा खेलते खेलते एक पुराने हमलीके पेड़के नीचे जा पहुँचे थे ?’

दिगम्बर—‘हाँ, हाँ: खूब याद है। गौरीदास परिडतके घरके समीपवाला हमलीका पेड़ न, जिसके नीचे गौर-निताई बैठे थे ?’

अद्वैतदास—‘हाँ, हाँ, भाई ! खेलते-खेलते तुमने कहा था—इस हमलीके पेड़की छूना नहीं, शची फूफ़ीका लड़का इसके नीचे बैठा था। छूनेसे वैरागी न हो पड़े।’

दिगम्बर—‘ठीक, ठीक !’ मुझे खूब याद है। वैष्णवोंके प्रति तुम्हारा तनिक झुकाव देखकर मैंने कहा था—तुम गौरांगके फन्देमें अवश्य पड़ोगे।’

अद्वैतदास—‘भाई मेरा तो सदासे यही भाव रहा है, उस समय उनके फन्देमें अब पड़ा तब पड़ा हो रहा था और अब तो पड़ ही गया हूँ।’

दिगम्बर—‘मेरी चाह पकड़ कर निकल आओ। फन्देमें पड़ा रहना अच्छा नहीं।’

अद्वैतदास—‘भाई ! इस जालमें बड़ा ही सुख है। ईश्वरसे प्रार्थना है—मैं चिरदिन इसी जालमें पड़ा रहूँ। तनिक इस जालको छूकर देखो तो सही।’

दिगम्बर—‘मेरा सब देखा हुआ है। उसमें दिखावटी सुख तो अवश्य है, किन्तु अंतमें कुछ भी

नहीं रहता।’

अद्वैतदास—‘तुम जिस जालमें हो उसमें कभी भी सुख न पाओगे ? कदापि ऐसा विचार न रखना।’

दिगम्बर—‘देखो ! हमलोग महाविद्याके उपासक हैं। हम अब भी सुखी हैं और तब भी सुखी रहेंगे। तुम अपने विचारसे सुखी हो सकते हो, परन्तु हम वां तुम लोगोंका कोई भी सुख नहीं देखते। लोग, न जाने वैष्णव क्यों होते हैं ? देखो न, हम लोग मांस-मजली का आस्वादन करते हैं अच्छासे अच्छा कपड़ा पहनते हैं, सभ्यता में तुम लोगोंसे कहीं अधिक बढ़ कर हैं। प्राकृत विज्ञानके सभी सुख-प्रसाधन हमें प्राप्त हैं, जिससे तुम लोग सर्वथा वंचित रहते हो और अंतमें तो तुम लोगोंका निस्तार ही नहीं है।’

अद्वैतदास—‘क्यों भाई ! हम लोगोंका अन्तमें निस्तार क्यों नहीं है ?’

दिगम्बर—‘मां निस्तारिणीके विमुख होने पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश किसीका भी निस्तार नहीं। मां निस्तारिणी—आद्या शक्ति हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु और महेशको उत्पन्न करके पुनः कार्य शक्ति द्वारा उनका पालन कर रही हैं। मां की इच्छा होने पर सभी फिर से उसी ब्रह्माण्ड भाण्डोदरीके उदरमें प्रवेश कर जायेंगे। तुम लोगोंने मां की ऐसी कौन उपासना की है जिससे मां तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगी ?’

अद्वैतदास—‘मां निस्तारिणी चैतन्य वस्तु है अथवा जड़ वस्तु ?’

दिगम्बर—‘वे इच्छामयी चैतन्यरूपिणी हैं। उन्हींकी इच्छासे ही पुरुष की सृष्टि होती है।’

अद्वैतदास—‘पुरुष किसे कहते हैं ? और प्रकृति किसे कहते हैं ?’

दिगम्बर—‘वैष्णव लोग तो केवल भजन करना जानते हैं, उनमें तत्त्व-ज्ञानका बिल्कुल अभाव होता है। प्रकृति और पुरुष चने की भाँति दो होकर भी एक हैं। ज़िलकेसे ढके रहने पर एक और ज़िलका निकलते ही दो। पुरुष-चैतन्य है और प्रकृति-जड़।

जड़ और चैतन्यकी अभिन्नावस्था ही 'ब्रह्म' है ।

अद्वैतदास—'तुम्हारी माँ प्रकृति हैं या पुरुष ?'

दिगम्बर—'कभी पुरुष हैं और कभी नारी हैं ।'

अद्वैतदास—'चनेके छिलकेके भीतर प्रकृति और पुरुष जो दो दलकी भाँति रहते हैं, उनमेंसे कौन तुम्हारी माँ है और कौन तुम्हारा पिता है ?'

दिगम्बर—'तुम तत्त्व जिज्ञासा कर रहे हो ? अच्छी बात है, हम बड़ भी जानते हैं । वास्तवमें माँ—प्रकृति हैं और पिता—चैतन्य हैं ।'

अद्वैतदास—'तुम कौन हो ?'

दिगम्बर—'पाशबद्धो भवेत्जीवः पाशमुक्तः सदा-शिवः ।' अर्थात् माया द्वारा आच्छादित होनेसे जीव और मायासे मुक्त होने पर जीव नहीं रहता—सदाशिव हो जाता है ।'

अद्वैतदास—'तुम पुरुष हो या प्रकृति ?'

दिगम्बर—'मैं पुरुष हूँ और माँ प्रकृति हैं । जब तक मैं बद्ध हूँ तब तक वह मेरी माँ हैं और जब मुक्त हूँ तब मेरी वामा अर्थात् स्त्री हैं ।'

अद्वैतदास—'वाह ! तुमने अच्छा तत्त्व समझाया । अच्छा, पहले यह तो बतलाओ कि तुम्हें यह तत्त्व कहाँसे मिला है ?'

दिगम्बर—'भाई ! मैं तुम्हारी तरह 'वैष्णव, वैष्णव' कहता हुआ यों ही घूमता नहीं था । कितने संन्यासी, ब्रह्मचारी, तांत्रिक, सिद्ध पुरुषोंका सम्सङ्ग करके और रात-दिन तन्त्रशास्त्रका अध्ययन कर मैंने इस तत्त्वज्ञानको प्राप्त किया है । यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हें भी तैयार कर सकता हूँ ।'

अद्वैतदास—(मन ही मन यह सोच कर कि बड़ी बुरी तरह फँसा) 'अच्छी बात है । मुझे एक बात और समझा दो । वह यह कि सभ्यता क्या है और प्राकृत-विज्ञान किसे कहते हैं ?'

दिगम्बर—'भद्र समाजमें भद्र ढंगसे बातें करना तथा अच्छे ढंगसे पेश आना, साधारण लोगोंका

जिससे सन्तोष हो वैसे कपड़े पहनना, इस प्रकार भोजन करना जिससे किसीको किसी प्रकारकी घृणा न हो । तुम लोग इन तीनोंमें से एक भी नहीं करते ।'

अद्वैतदास—'यह कैसे ?'

दिगम्बर—'तुम लोग किसी दूसरे समाजमें नहीं जाते । नितान्त असामाजिक व्यवहार करते हो । मधुर भाषणसे लोक रंजन किसे कहते हैं—यह वैष्णव लोग जानते नहीं हैं । लोगोंको देखते ही कहते हैं—'हरिनाम करो ।' क्यों जी ! क्या इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी सभ्यता नहीं । तुमलोगोंकी वेशभूषा देख कर कोई सहज ही सभामें बैठने तक नहीं देता । सिर पर विराट चोटी, गलेमें एक टोकरी माला और एक लँगोटी—यही तो तुम्हारी वेश-भूषा है । भोजन तो केवल आलू और शकरकंद तक ही सीमित है । वास्तवमें तुमलोगोंमें तनिक भी सभ्यता नहीं है ।'

अद्वैतदास—(आप-ही-आप—यदि थोड़ासा झगड़ा करनेसे यह खिसियाकर चला जाय तो अच्छा है—ऐसा सोचकर) 'सभ्यतासे क्या परलोकमें कुछ सुविधा होती है ?'

दिगम्बर—'परलोकमें तो कुछ सुविधा नहीं होती, परन्तु सभ्य न होनेसे समाजकी उन्नति कैसे हो सकती है ? समाजकी उन्नति होनेसे परलोककी चेष्टाकी जा सकती है ।'

अद्वैतदास—'भाई ! यदि असन्तुष्ट न हो तो मैं कुछ कहूँ ।'

दिगम्बर—'तुम मेरे लड़कपनके मित्र हो तुम्हारे लिये मैं अपना जीवन तक भी न्यौछावर कर सकता हूँ, तो फिर क्या तुम्हारी एक बात भी न सह सकूँगा ? हम सभ्यताके प्रेमी हैं, क्रोध होने पर भी मीठी बातें करना जानते हैं । मानसिक भावोंको जितना ही छिपा कर रखा जाय, सभ्यता उतनी ही उच्च कोटिकी मानी जाती है ।'

अद्वैतदास—'मनुष्य जीवन थोड़े दिनोंका है । तिसपर भी इसमें अनेक विघ्न हैं । अतएव इस

क्षणिक जीवनमें सरलतासे हरिभजन करना ही मनुष्य-का एकमात्र कर्त्तव्य है। सभ्यता भीखनेका तात्पर्य है आत्माको धोखा देना। हम जानते हैं कि 'धूर्त्ता' का ही दूसरा नाम 'सभ्यता' है। मनुष्य-जीवन जब तक सम्मार्ग पर रहता है, तभी तक वह सरल रहता है। किन्तु जैसे-जैसे वह कुमार्ग पर अग्रसर होने लगता है, वह मीठी-मीठी वाणियोंसे लोक-रंजन करता हुआ अपने कुकर्मोंपर पर्दा डालनेके लिये अधिक सभ्य बननेकी चेष्टा करता है। सभ्यता नाम-का कोई गुण नहीं, सच्चा व्यवहार और सरलता ही गुण हैं। अपनी दुष्टता पर पर्दा डालनेकी वर्त्तमान प्रथाका नाम ही 'सभ्यता' है। 'सभ्यता' शब्दका अर्थ है—सभामें बैठनेकी योग्यता अर्थात् सरल भद्रताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तुम धूर्त्ताको 'सभ्यता' कहते हो। यदि निष्पाप-सभ्यता कहीं मिल सकती है तो केवल वैष्णवोंके पास ही मिल सकती है और यदि सभ्यता पापपूर्ण है तो वह अवैष्णव समाजका ही भूषण हो सकती है। तुम जिस सभ्यताकी बात कह रहे हो, उससे जीवके नित्यधर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। जन-साधारणको मुग्ध करने वाली वेश-भूषा ही यदि सभ्यता है तो वेश्याएँ तुम लोगोंसे कहीं अधिक सभ्य हैं। वस्त्रके सम्बन्धमें तो केवल इतना ही माना जा सकता है कि उससे आवश्यकतानुसार शरीर ढका रहे, वह साफ-सुथरा रहे, उसमें कोई दुर्गन्ध न रहे। आहारके संबंधमें पवित्रता और उपयोगिताका विचार होता है। परन्तु तुम लोगोंके मतानुसार आहार केवल स्वादिष्ट होना चाहिये, चाहे वह अपवित्र ही क्यों न हो। मद्य-माँस स्वभावसे ही अपवित्र हैं, अतएव उनका भोजन-पान करनेसे जो सभ्यता होती है, वह

एक पाप-आचरणके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वर्त्तमान सभ्यताको कलियुगी-सभ्यता भी कह सकते हैं।'

दिगम्बर—'क्या तुम बादशाही सभ्यताको भूल गये? देखो, बादशाही-दरबारोंमें लोग किस अदब-कायदेसे बैठते हैं, बातें करते हैं?'

अद्वैतदास—'यह तो केवल सांसारिक व्यवहार मात्र है। यदि ऐसा न भी हो तो कोई हानि नहीं। भाई! बहुत दिनों तक यवनोंकी नौकरी करके तुम वैसी सभ्यताके पक्षपाती हो गये हो। वास्तवमें मनुष्यका निष्पाप जीवन ही सभ्य जीवन है। पाप वृद्धिके साथ-साथ कलियुगी सभ्यताकी उन्नति बिडम्बना नहीं तो क्या है?'

दिगम्बर—देखो, आधुनिक विद्वानोंके मतानुसार वर्त्तमान सभ्यता ही 'मनुष्यता' की कसौटी है। जो सभ्य नहीं, वह मनुष्य कहलानेका अधिकारी नहीं है। स्त्रियोंको सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों और अलङ्कारोंसे सजाना तथा उनके दोषोंको छिपाना ही आधुनिक सभ्यताका मूल लक्षण हैं।

अद्वैतदास—'यह सिद्धान्त भला है या बुरा—इसका विचार स्वयं कर सकते हो। तुम जिन लोगोंको विद्वान कहते हो, मेरी समझसे—वे केवल धूर्त हैं। कुछ तो कुसंस्कारके कारण और कुछ दोषोंको छिपानेकी सुविधा प्राप्तिके लिये असरल सभ्यताके पक्षपाती बन गये हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति उनके समाजमें कौनसा सुख प्राप्त करेंगे? धूर्तोंकी सभ्यताका गौरव केवल व्यर्थ-तर्क और शारीरिक बल द्वारा सुरक्षित होता है।

(क्रमशः)

(३) सदाचार

भगवान् विष्णु के जगदीश होनेके नाते जगत्-वासी हमलोग सभी उसकी संतान या उसके सेवक अर्थात् वैष्णव हैं। इसलिए विष्णुकी सेवा करना हमारा धर्म है। इसलिए एकमात्र विष्णुकी सेवा और विष्णुसेवाके अनुकूल समस्त कर्मोंको सदाचार कहते हैं। और यही सर्वश्रेष्ठ सदाचार है। विष्णु-सेवाके प्रतिकूल कार्य अतीव सुखकर प्रतीत होने पर भी यथार्थ कल्याणप्रद नहीं होते। अतः इन्हें असदाचार कहा जाता है। असदाचार सर्वथा वर्जनीय है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है —

“कहे माने, कहे ना माने, सब कृष्ण-दास।
ये ना माने, तार हय सेई पाये नास ॥
जीवेर ‘स्वरूप’ हय कृष्णेर ‘नित्यदास।’
कृष्णेर ‘तटस्था शक्ति’ ‘भेदा-भेद प्रकाश’ ॥”

(चैतन्यचरितामृत)

भावार्थ यह है कि निखिल प्राणी कृष्णके नित्यदास हैं। कुछलोग इस वास्तव तथ्यको स्वीकार करते हैं, और कुछ लोग स्वीकार नहीं करते। जो लोग स्वीकार नहीं करते, उनका इसी पापके कारण विनाश हो जाता है। जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्य-दास है। वह चिज्जगत् और मायिक जगत्-इन दोनोंके मध्य सीमारेखा पर अवस्थित होकर दोनों जगत्से सम्बन्ध रख सकता है। इसलिये जीवको तटस्था शक्ति भी कहा गया है। जीव कृष्णका भेदा-भेद प्रकाश है। चिन्मय धर्मके सम्बन्धसे जीव कृष्ण का अभेद प्रकाश है तथा अणु-चैतन्य धर्मवशतः जीव वृहद् चैतन्य कृष्णका भेद प्रकाश है। भेद और अभेद-दोनों युगवत् सिद्ध हैं।

श्रीमद्भागवतका कहना है—‘वृक्षकी जड़में जल देनेसे जिस प्रकार उसकी शाखा प्रशाखाओंमें पृथकरूपमें जल देनेकी आवश्यकता नहीं होती प्राणों में आहार देनेसे जिस प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंको अलग-अलग आहार नहीं देना पड़ता, उसी प्रकार सर्वेश्वर विष्णुकी उपासना करनेसे दूसरे-दूसरे

देवताओं की पृथक्-पृथक् पूजा करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जो मनुष्य समस्त प्रकारके कर्मोंका परित्यागकर श्रीहरिको सबका मूल जानकर उसी अखिल लोक शरण्य श्रीमुकुन्दके चरणोंमें सर्वतोभावेन शरण ले लेता है, वह देवता, ऋषि, पितृगण, भूत-समूह और आत्मीय-स्वजनों—किसीका भी ऋणी नहीं रहता।’

प्रत्येक कल्याणकामो साधकको सबसे पहले सद्गुरुका पदाभ्यग करना चाहिये। उनसे विधिवत् मंत्र-दीक्षा ग्रहणकर प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए तथा उनके आनुगत्यमें रहकर भ्रवण-कीर्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका यथायथ पालन करना चाहिये।

भगवद्भक्तिके अनुकूल ग्रहण, प्रतिकूल वर्जन कृष्ण मेरी अवश्य ही रक्षा करेंगे—यह सुदृढ़ विश्वास, भगवानको अपने रक्षक और पालकरूपमें वरण, स्वतन्त्रता परित्याग कर आनुगत्य और दैन्य भाव ग्रहण—शरणागति के इन छः अङ्गोंका पालन करना चाहिये। सत्संग, संकीर्तन, भागवत-श्रवण, शीघ्र भक्ति अथवा मन्दिर या आश्रममें वास तथा श्रद्धापूर्वक श्रीअर्च्यमूर्तिकी सेवा—भक्तिके इन पाँचों अङ्गोंका पालन ही यथार्थ सदाचार है।

शुद्ध भक्तोंकी पद-धूलि, पद-जल और अधरामृत ग्रहण करनेसे भक्ति प्राप्त होती है। इसलिये श्रद्धापूर्वक इनका सेवन करना चाहिये। यदि प्रतिदिन सत्संग न मिले तो उसके अभावमें सत् शास्त्रोंका आलोचनरूप सत्संग अवश्य करणीय है। भगवान्की अर्च्यमूर्तिको काठ या पत्थर मानना, गुरुदेवको मरणशील मानव समझना, भक्तोंकी जातिपाँतिका भेदभाव रखना, विष्णु और वैष्णवोंके पादोदकको साधारण जल समझना, भगवन्नाम और मंत्रको साधारण शब्द मानना, और सर्वेश्वर विष्णुको दूसरे-दूसरे देवताओंके समान समझना महा अपराध-जनक और नरकप्रापक होता है।

(क्रमशः)